सहजानंद शास्त्रमाला

मोक्ष – शास्त्र

भाग 19

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

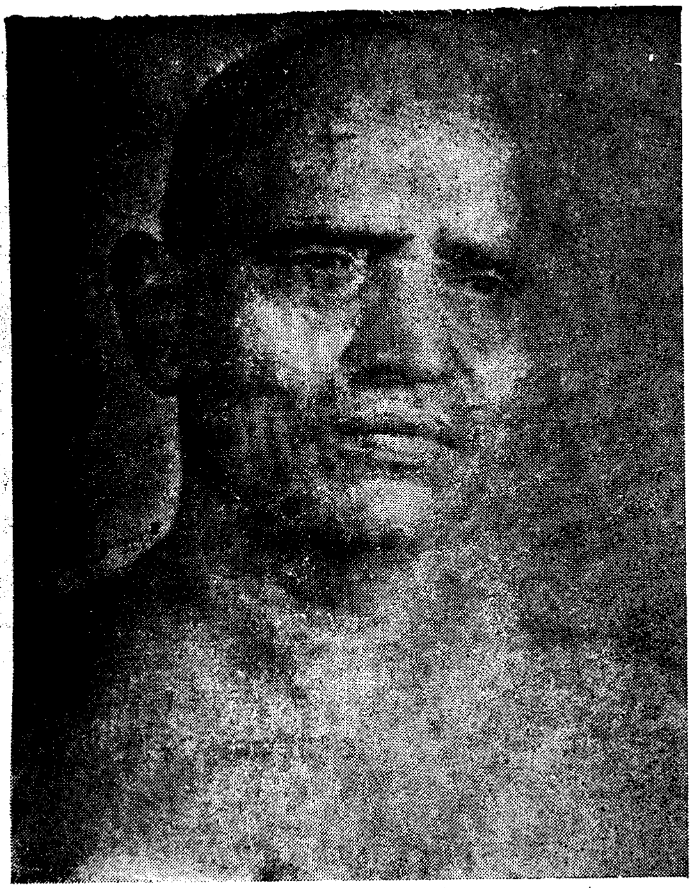

परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारो ।
जय जय अविकारी,
स्वामी जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी,
शाश्वत स्वविहारी ॐ···॥टेक॥
काम क्रोध मद लोभ न माया,
समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन,
सकल क्लेशहारी ॥ १ ॥ ॐ····
हे स्वभावमय जिन तुमि चीना,
भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत,
सहत बिपति भारी ॥२॥ ॐ····
परसम्बंध बंध दुख कारण,
करत अहित भारी ।
परमब्रह्म का दर्शन,
चहुं गति दुखहारी ॥३॥ ॐ···

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारो ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारो ॥ ४ ॥ ॐ····
बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥ ५ ॥ ॐ···

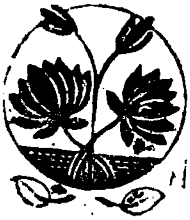

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥ टेक ॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥ १ ॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥ २ ॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥ ३ ॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥ ४ ॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोंपर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक-बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा।

मोक्षशास्त्र प्रवचन

१६, २० व २१ भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्म भूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ।।

पहले ५ अध्यायोंमें जीव और अजीव तत्त्वका वर्णन आया। पंचम अध्यायमें पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्यका वर्णन किया गया। अब उद्देश्य के अनुसार जैसा कि प्रथम अध्यायके जीवाजीवास्रव आदिक चतुर्थसूत्रमें ७ तत्त्वोंके नाम लिया उस क्रमके अनुसार अब आस्रव तत्त्वका वर्णन करना प्राप्त होता है। सो आस्रवतत्त्व की प्रसिद्धिके लिए यह सूत्र कहते हैं—

कायवाङ्मनःकर्म योगः ।। ६-१ ।।

योगका लक्षण और सूत्रप्रयुक्त कर्म शब्दके अर्थपर विचार—शरीर, वचन और मन का कर्म योग कहलाता है। इस सूत्रमें दो पद हैं। प्रथम पदमें समास इस प्रकार है कि कायश्च वाक्‌चमनश्च कायवाङ्मनांसि तेषांकर्मइति कायवाङ्मनः कर्म। यहाँ कर्म शब्दका अर्थ क्रिया है अर्थात् शरीर की क्रिया, मनकी क्रिया, वचनकी क्रिया, यद्यपि कर्मशब्दके अर्थ अनेक होते हैं। कहीं तो कर्मकारकमें प्रयोग होता है, कहीं पुण्य पाप अर्थ लिया जाता है, कहीं क्रिया अर्थ लिया जाता है। यहाँ क्रिया अर्थ है, अन्य अर्थ यहाँ घटित नहीं होते। कर्म शब्दका एक अर्थ कर्मकारक है, वह यहाँ इस कारण घटित नहीं होता कि शरीर वचन और मन यहाँ कर्म नहीं माने जा सकते, क्योंकि कर्म होते हैं तीन प्रकारके (१) निर्वर्त्य (२) विकार्य और (३) प्राप्य। निर्वर्त्य कर्म उसे कहते हैं जो रचा जाय।

जैसे लोहेकी तलवार बनायी जा रही है तो यहाँ बनाने वाला लोहार है और वह तलवार को बनाता है तो वह तलवार किस तरह बनती है कि वह लोहा ही पसर फैलकर उस रूपमें आ जाता है। तो यह रचना हुई लोहेकी। तो कोई कर्म तो रचनारूप होते हैं, कोई कर्म विकार्य होते हैं, जैसे सेठानी जी दूधसे दहीको बना रही हैं तो दहीका बनाना क्या ? दूधमें जामन डालना और उसका विकार बन गया, उस विकारका नाम दही है। तो दही जो निष्पन्न हुआ है वह दूधका विकार रूप है। निर्वर्त्यमें और विकार्यमें अन्तर क्या आया ? निर्वर्त्यमें विकार नहीं है लोहा था उसे पसारकर, आकार बदलकर एक रचना ही तो हुई पर विकार नहीं आया, दहीमें विकार आया है। उसकी बदल बन गई है। रूप भी दूसरा, रस भी दूसरा, गंध भी दूसरा, स्पर्श भी दूसरा हो गया। एक होता है प्राप्यकर्म जैसे देवदत्त स्टेशनको जाता है तो यहाँ स्टेशन कर्म है तो वह प्राप्य कर्म है, अर्थात् न तो स्टेशन निर्वर्त्य है कि देवदत्तने किसी चीजसे स्टेशनकी रचना की और न वह विकार्य कर्म है कि कोई चीज मिलाकर किसी चीजका विकार बन गया हो स्टेशन किन्तु वह प्राप्य कर्म है। देवदत्त दो मील दूर था। अब वहाँसे चलकर उसने स्टेशनको प्राप्त कर लिया तो यों होता है प्राप्यकर्म। तो यहाँ देखिये कि ये तीनों ही प्रकारके कर्म कर्ता से भिन्न हैं। पर यहाँ शरीर, मन, वचनके जो योग हैं वे कर्तासे भिन्न हैं क्या ? अगर इन्हें कर्म मानते तो इससे भिन्न कर्ता क्या ? तो ये कर्म कारकमें नहीं आते। यहाँ एक बात विशेष जानना कि अध्यात्मशास्त्रमें कर्ता कर्म आदिकका अभेद बताया जाता। उसकी दृष्टि और है। निश्चयनयकी दृष्टिमें एक ही पदार्थमें षट्कारक निरखना हुआ करता है। मगर रूढ़िमें, आमरिवाजमें जो कर्ता कर्मकी रूढ़ि है तो वह भिन्न-भिन्नमें हुआ करती है। यहाँ स्थूल दृष्टिसे चिंतन चल रहा है कि शरीर, वचन और मन ये कर्मकारक नहीं है। तो दूसरा कहा गया था कि ये पुण्य, पापरूप होंगे सो पुण्य पापरूप भी कर्म यहाँ नहीं माना, क्योंकि यदि इनका पुण्य पापरूपसे अभिप्राय होता तो आगे सूत्र स्वयं कहा जायगा—"शुभपुण्यस्याशुभ: पापस्य" यदि पुण्य पाप यहाँ प्रयुक्त कर्मका अर्थ माना जाता तो आगे इस पुण्य पापका जिक्र क्यों करते, इससे पुण्य पाप वाला कर्म भी इस सूत्रमें कहे गए कर्म शब्दका अर्थ नहीं है। तब फिर क्रिया ही अर्थ रहा। शरीर, वचन और मनकी क्रिया योग है अथवा कर्मकारकरूपसे भी समझना हो तो कर्ता मानो आत्माको और उसके कर्म हुए शरीर, वचन, मन, तो इस प्रकार कर्म लगाये जा सकते हैं, पर यहाँ मुख्यता क्रिया की है। यहाँ यह बात भी समझने योग्य है, योग परमार्थसे शरीर, वचन, मनकी क्रिया नहीं है, किन्तु शरीर, वचन, मनकी क्रिया करनेके लिए उस क्रियाके अभिमुख जो आत्मप्रदेशोंका परिस्पंद है वह योग

कहलाता है।

(२) **कर्म शब्दकी निष्पत्ति व योगकी त्रिविधता**—कर्म शब्दकी निष्पत्ति कैसे हुई है। तीनों साधनोंमें कर्म शब्दकी निष्पत्ति हुई है। जैसे—आत्माके द्वारा जो परिणाम किया जाता है वह कर्म है। तो 'आत्मना क्रियते तत् कर्म' यह कर्म साधन हो गया। 'आत्मा द्रव्य भावरूपं पुण्यं पापं करोति इति कर्म'। आत्मद्रव्य भावरूप कर्मको करता है तो यह कर्तृ साधन हो गया। और जब ऐसी क्रियापर ही दृष्टि हुई तो वह भाव साधन हो गया। 'करणं कृतिर्वा कर्म' निश्चयसे तो आत्माके द्वारा आत्माका परिणाम ही किया जाता है, पर निमित्तनैमित्तिक भावके कारण व्यवहारदृष्टिसे आत्माके द्वारा योग शब्द भी कर्ता, कर्म, करण साधनमें प्रयुक्त होता है। यहाँ एक शंकाकार कहता है कि आत्मा तो अखण्ड द्रव्य है और तीनों प्रकारके योग आत्माके परिणाम स्वरूप हैं। तो परमार्थदृष्टिसे तो तीन भेद योगके न होना चाहिए। फिर यहाँ ये तीन भेद कैसे किए गए? उत्तर—पर्यायदृष्टिसे ये व्यापार भिन्न-भिन्न हैं, इस कारण योगके तीन भेद हो गए। जैसे मानो आम्रफलका परिचय करना है तो आम तो एक पदार्थ है, उसमें भेद क्यों हों? लेकिन चक्षु इन्द्रियसे देखनेपर आममें रूप विदित होता है तो घ्राणइन्द्रियसे परिचय करनेपर आममें सुगंध परिचित होती है और रसना इन्द्रियसे परिचय करनेपर मीठा खट्टा, इस प्रकार परिचय होता है, और स्पर्शन इन्द्रियसे परिचय करनेपर कोमल, कठोर ऐसा कुछ अनुभव होता है। तो आम तो एक वस्तु है दृष्टान्तके लिए, किन्तु इन्द्रियके व्यापारके भेदसे उसमें चार भेद जैसे विदित हो गए हैं इसी तरह पर्यायके भेदसे योगमें भी भेद समझ लेना चाहिए। तो यहाँ आम्रफलमें तो चक्षुइन्द्रिय आदिकके निमित्तसे रूप, रस आदिक पर्यायभेद सिद्ध हुए हैं; क्योंकि ग्रहण भेदसे ग्राह्य भेद होता ही है। इस प्रकार आत्मामें पूर्वकृत कर्मोदयके निमित्तसे, क्षयोपशम आदिकके निमित्तसे शक्तिभेद भी होता है और योगभेद भी होता है।

(३) **योगोंकी निष्पत्तिका सहेतुक विधान**—देखिये पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्मके उदयसे शरीरादिक मिले हैं तो वहाँ शरीर, वचन, मनकी वर्गणामेंसे किसी वर्गणाके आलम्बन होनेपर और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे और मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जो अंतरंगमें वचन-लब्धि प्राप्त हुई है तक वचनके परिणमनके अभिमुख आत्माका जो प्रदेश परिस्पंद है वह वचन योग कहलाता है। इस प्रकार सीधे स्पष्ट जानें कि योग तो आत्माका प्रदेश परिस्पंद है। वह योग यदि वचनके अभिमुख है, वचन व्यापार करनेके लिए निमित्तभूत हो रहा है तो वह कहलाता है वचनयोग। पर वचनयोग होनेके लिए प्रथम तो शरीर चाहिए ना, वह शरीर नामकर्मके उदयसे मिल गया, फिर उसकी शक्ति चाहिए, सो वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे शक्ति मिल गई, फिर इतना ज्ञान चाहिए कि जिससे वह वचन बोल सके, तो मतिज्ञाना-

वरणका क्षयोपशम मिल गया, ऐसी स्थितिमें वचनवर्गणाका आलंबन होनेपर जो आत्माका प्रदेश परिस्पंद है उसे वचनयोग कहते हैं, इसी तरह मनोयोग भी वह आत्माका प्रदेश परिस्पंद है जो मनके परिणामके अभिमुख है इसमें भी क्या क्या साधन हुआ करते हैं कि पहिले तो शरीर नामकर्मका उदय चाहिए ताकि शरीर मिला सो वह भी मिल गया और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम हुआ और मनोज्ञानावरणका क्षयोपशम हुआ, इस प्रकार जब मनकी लब्धि प्राप्त हो जाती है वहाँ फिर अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कारण मिलने पर विचारके अभिमुख जो आत्माके प्रदेश परिस्पंद होते हैं वह है, मनोयोग। इसी प्रकार काययोग भी जानना। इतने साधन तो सभीमें चाहने पड़ते हैं शरीर नामकर्मका उदय, वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और इसके होने पर औदारिक आदिक जो ७ प्रकारकी कायवर्गणायें हैं उनमें से किसी वर्गणाका आलम्बन लेकर जो आत्मप्रदेशका परिस्पंद है वह काययोग है। योग प्रायः क्षयोपशमके होने पर होता है, किन्तु सयोगकेवलीके ज्ञानावरण व वीर्यान्तरायके क्षयपर भी होता है। वह क्षयोपशम निमित्तक रहा तो केवली भगवानमें क्षय निमित्तक योग रहा। यह क्षय निमित्तक तो है पर इसका अर्थ यह नहीं कि क्षय हो चुके तो सदैव योग बना ही रहे। जो क्रियाका परिणमन करे ऐसे आत्माके कायवर्गणा वचनवर्गणा, मनोवर्गणाके आलम्बनसे जो प्रदेश परिस्पंद होता है वह सयोगकेवलीके योगकी रीति है, पर इसका आलम्बन आगे नहीं चलता इसलिए १४ वें गुणस्थानमें और सिद्ध भगवानमें योग नहीं होते हैं।

(४) **योगकी आत्मासे कथंचित् भेदाभेदका संदर्शन व योगका प्रकृतार्थ**—यहाँ एक बात यह भी जान लेना कि योग और आत्मामें कथञ्चित् भिन्नपना है, कथञ्चित् अभिन्नपना है। अभिन्नपना है ऐसा समझनेमें तो कुछ कठिनाई नहीं है, आत्मा है और प्रदेश परिस्पंद हो रहा उसका। तो आत्मासे प्रदेश जुदा नहीं और प्रदेश परिस्पंद जो हो रहा उससे आत्मा जुदा नहीं, लेकिन लक्षण संज्ञा आदिकके कारण उनमें भेद भी माना जा सकता है। जैसे एक पुरुष पुजारी है, किसान है, व्यापारी है। तो है तो वही पुरुष, मगर संज्ञा लक्षण आदिकके भेदसे वे भिन्न-भिन्न रूपमें परखे जाते हैं। अतएव वे व्यापार इससे भिन्न भी हो गए। तो ऐसे ही आत्मद्रव्यकी दृष्टिसे तो एकपना ही है, आत्मा व योग तीन नहीं हो गया, मगर क्षयोपशम जुदा-जुदा है, शरीर पर्याय जुदा-जुदा है। उसकी दृष्टिसे योग तीन प्रकारका हो गया। यहां योग शब्दका अर्थ है प्रदेश परिस्पंद। योगका अर्थ ध्यान न लेना। ध्यानका वर्णन आगे ध्यानके प्रकरणमें होगा। वैसे योग शब्द दोनोंका पर्यायवाची है। युज् धातु समाधि अर्थमें भी आती है, पर उसका वर्णन आगे किया जायगा। यहां उसके आस्रव बताये जा रहे हैं तो ध्यानसे कहीं आस्रव होता है ? प्रदेश परिस्पंदसे आस्रव होता है। तो यहां योगका मत-

लब शरीर, वचन, कायकी क्रिया है। योग शब्दका अर्थ जोड़ भी होता है। जैसे बच्चोंको सवाल दिया जाता है दो तीन संख्यावोंकी लाइन रख दी और कहा कि इनका योग करो याने समुदाय अर्थमें भी योगका नाम चलता है, पर यहाँ समुदाय अर्थ नहीं किया जा रहा है। समुदाय अर्थ तो प्रथम पदमें ही आ गया कि शरीर, वचन और मनका कर्म तो कर्म शब्द सबके साथ लिया जायगा। शरीरकर्म, वचनकर्म और मनः कर्म। पर यहाँ योग शब्द का अर्थ प्रदेशपरिस्पंद ही है।

(५) **आस्रवकारणता व कायादिक्रमरहस्यका संदर्शन**—इस सूत्रका तात्पर्य यह हुआ कि नवीन कर्मका आश्रव योगका निमित्त पाकर होता है, आत्माके प्रदेशमें जो परिस्पंद है वह नवीन कर्मके आश्रवका कारण है। कार्माणवर्गणामें कर्मत्वका आ जाना यह आत्माके प्रदेशपरिस्पंदके कारण होता, यहाँ तक एक साधारण बात रही, पर उस कार्माणवर्गणामें स्थिति और अनुभाग आ जाय तो वह होता है कषायके निमित्तसे। यहाँ केवल आश्रवका प्रकरण है। तो जो आश्रवका सीधा निमित्त है उसका ही वर्णन किया जा रहा है। शरीर, वचन और मन ये तीनों अजीव पदार्थ हैं, पर जीवके साथ सम्बंध होनेसे वे जीवित कहलाते हैं। तो वहाँ दो पदार्थ पड़े हैं–जीव और ये काय आदि पुद्गल। तो उपादानकी दृष्टिसे देखा जाय तो शरीर, वचन, मनकी क्रियायें उन पुद्गलोंमें ही होती हैं और आत्माके प्रदेशपरिस्पंद रूप क्रियायें आत्मामें होती हैं, किन्तु जो आत्मप्रदेशपरिस्पंद काय, वचन, मनमें से जिसकी क्रियाके लिए हो रहा हो उसमें उसका नाम जोड़ा जाता है। तो आरोप होनेसे योगके तीन नाम हो जाते हैं—काययोग, वचनयोग और मनोयोग प्रायः करके योगके जहाँ नाम आते हैं तो उनका क्रम इस प्रकार रहता है मन, वचन, काय, किन्तु यहाँ काय, वचन, मन इस क्रम से प्रयोग किया गया है तो इसमें यह बात ध्वनित होती है कि कायकी क्रियाविशेषविदित होने वाली और और विशेष परिस्पंद वाली है। वचनकी क्रिया कायकी क्रियाकी अपेक्षा कुछ कम चेष्टा वाली और वचनकी अपेक्षा मनकी क्रिया परिस्पंद भीतर ही उससे भी सूक्ष्म ढंगसे है। तो स्थूल और सूक्ष्मकी अपेक्षा इस सूत्रमें काय, वचन और मन इस क्रमका प्रयोग किया गया है। एक बात यह जाहिर होती है कि कोई काय चेष्टा बिना विचारे भी हो जाती है, पर उसकी अपेक्षा वचनकी क्रिया बिना विचारे नहीं होती, कम होती है। वचन बोलनेमें काययोगकी अपेक्षा विचार अधिक चलता है और मनोयोगमें तो वह विचाररूप ही है। तीसरी बात लौकिक दृष्टिसे कायसे होने वाला अनर्थ सबसे बड़ा अनर्थ है, वचनसे होने वाला अनर्थ उससे कम है और मनमें ही कोई बात सोच ले तो उससे दूसरेका अनर्थ नहीं होता, वह कम अनर्थ है, पर सिद्धान्तकी दृष्टिसे काययोगसे अधिक अनर्थ वचनयोगमें है, वचनयोगसे अधिक अनर्थ मनोयोगमें है। ऐसे अनेक रहस्योंको संकेत करने वाले इस सूत्रमें यह बात कहना प्रारम्भ

किया है कि जीवके साथ कर्मोंका आते रहना किस प्रकार होता है ? उसमें सर्वप्रथम आश्रव होता, उस आश्रवका इस सूत्रमें संकेत किया है ।

स आश्रवः ॥ ६-२ ॥

(६) **आस्रवका स्वरूप**—इससे पूर्व सूत्रमें तीन प्रकारकी क्रियावोंको योग कहा गया है। वह योग ही आश्रव है, ऐसा बतानेके लिए यह सूत्र कहा गया है कि वह जो मन, वचन, कायका कर्मरूप योग है सो आश्रव है । यहाँ यह जानना कि वास्तविक आश्रव तो प्रदेशपरिस्पंद मन, वचन, काय इनमेंसे जिसके अभिमुख हो रहा है, जिसके लिए प्रदेशपरिस्पंद हो रहा है उस उस नामसे उनकी क्रियावोंको उपचारसे योग कह देते हैं । प्रदेशपरिस्पंद आश्रव है, इसका भी अर्थ यह जानना चाहिए कि योग नवीन कार्माण, स्कंधोंमें कर्मत्व होनेका निमित्तभूत है यों निमित्तमें आश्रवपनेका उपचार किया है, अथवा जीवके लिए देखें तो जीवाश्रवमें यही आश्रव है । जीवका स्वभाव है निष्क्रिय रहना, निस्तरंग प्रदेश परिस्पंदसे रहित रहना, सो यह स्वभाव अभिभूत होकर क्रिया परिस्पन्द जीवमें हो रहा, इसलिए यह आश्रव जीवाश्रव है ।

(७) **षष्ठ अध्यायके प्रथम और द्वितीय सूत्रको एक सूत्र न बनानेका कारण**—यहाँ एक शंकाकार कहता है कि पूर्व सूत्रको और इस सूत्रको एक मिला दिया जाय तो योग शब्द न कहना पड़ेगा व शब्द भी न कहना पड़ेगा और संधि होनेसे एक अक्षर और भी कम हो जायगा। ऐसा करनेपर सूत्ररूप होगा— 'कायवांङ्मनः कर्माश्रवः' और सूत्रका लघु होना विद्वानों के लिए शुद्धि और प्रसन्नताका कारण होता है। इसके समाधानमें कहते हैं कि यदि ऐसा सूत्र बनाया जाता और वहाँ योग शब्द न आता तो लोग योगसे अपरिचित रहते और फिर सीधा ही यह ही जानते कि काय, वचन, मनकी क्रिया ही आश्रव है । निमित्तनैमित्तिक भाव और वास्तविक आश्रवभावका परिचय नहीं रहता । तो योग शब्द आगममें प्रसिद्ध है और उसका अर्थ यहाँ न कहा हुआ हो जाता, जिससे अर्थमें भी बाधा आती और योग शब्दका कथन न रहनेका दोष भी रहता । अब शंकाकार कहता है कि योग शब्द भी रख लिया जाय फिर भी दोनों सूत्रोंको मिला देनेसे सः शब्द न रखना पड़ेगा तो भी लघु हो जायगा । उस समय सूत्र का रूपक होगा 'कायवांङ्मनः कर्मयोगः आश्रवः' । इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि दोनोंको एक मिला देनेसे समस्त योगोंमें आश्रवपना आ जायगा । यद्यपि मिला देना भी शाब्दिक दृष्टि से ठीक बैठना है फिर भी न मिलाया तो यह पृथक्करण इस बातको सूचित तो करता है कि योग आश्रवके हेतु है, परन्तु सर्व योगमें समान आश्रवपना नही है और स्थितिकी दृष्टिसे १३ वें गुणस्थानमें सयोगकेवलीके केवली समुद्घातमें बड़ा योग होने पर भी आश्रव नहीं होता ।

वीतराग आत्माओंके साम्परायिक आश्रव नहीं कहा गया और साम्परायिक आश्रव ही वास्तव में आश्रव है। ईर्यापथाश्रव तो निष्फल है, उसका तो एक समय भी ठहरना नहीं होता। यद्यपि सयोगकेवलीमें सूक्ष्मकाययोग है और उसके निमित्तसे जो आश्रव है वह अत्यन्त अल्प है, स्थिति ऐसी है मगर दोनों सूत्रोंको एक मिला देनेसे उनका भी आश्रवपना सिद्ध हो जाता।

(८) **सानुभाग व निरनुभाग आस्रवके हेतुभूत योगको जाननेके लिये सूत्रपार्थक्य**—और भी देखिये—वर्गणावोंका आलम्बनके निमित्तसे योग होता है और उसे आश्रव कहा है, मगर जिस समय दण्ड आदिक समुद्घात होते हैं वे वर्गणावोंके आलम्बनके निमित्तसे नहीं होते। इस कारण सयोगकेवलीके आश्रवपना नहीं माना गया। अब शंकाकार कहता है कि सयोगकेवली गुणस्थानमें दंडादिक समुद्घात होनेपर अन्य आश्रव नहीं माने गए तो सर्वथा निर्बंध हो जायेंगे, निराश्रव हो जायेंगे, पर करणानुयोगमें सयोगकेवली गुणस्थान तक अथवा ११वें, १२वें, १३वें तीनों वीतराग आत्मावोंके ईर्यापथाश्रव कहे गए हैं, अथवा प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध नामका बंध माना गया है तब तो यह आगमके विरुद्ध हो जायगा। इसके समाधानमें कहते हैं कि वहाँ जो भी आश्रव हो रहा, बंध हो रहा, स्थिति अनुभागसे रहित जो कार्माणवर्गणायें आ रहीं उसमें दंडादि योग निमित्त बंध नहीं है। तो क्या है? कार्माण वर्गणाके निमित्तसे आत्मप्रदेशका परिस्पंद है और तन्निमित्तक वहाँ बंध है सो भी स्थितिअनुभागरहित है। शंकाकार कहता है कि जैसे केवली भगवानके इन्द्रिय होनेपर भी इन्द्रियका व्यापार न होनेसे इन्द्रियजन्य बंध नहीं हो रहा है उसी प्रकार दंडादिक समुद्घात होनेपर भी तन्निमित्तक बंध न होनेसे इसका आश्रवपना न हो सकेगा। तो पूर्वोक्त आपत्ति न आनेसे दोनों सूत्रोंको एक बना देनेपर भी तो कुछ हर्ज नहीं है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि भिन्न-भिन्न सूत्र बनानेमें यह अर्थ निकलता है कि शरीर वचन और मनकी वर्गणावोंके आलम्बन से जो प्रदेश परिस्पंद है वही योग है और वही आश्रव कहलाता है अर्थात् कोई ऐसा भी योग है कि जिस योगसे आश्रव नहीं होता, यह बात तब ही तो शुद्ध बनेगी जब दो सूत्र भिन्न कहे जायेंगे। यहाँ आश्रवमें मुख्य साम्परायिक आश्रव लेना।

(९) **आस्रव शब्दका शब्दार्थ, निरुक्त्यर्थ व प्रकृतार्थ**—अच्छा अब देखो आश्रव नाम क्यों रखा गया है कर्ममें कर्मत्व आनेका? आश्रव कहते हैं किसी द्वारसे चूकर निकलनेको। जैसे किसी पर्वतमें किसी स्थलपर चू कर पानी निकलता है तो ऐसे ही योगकी नालीके द्वारा आत्माके कर्म आते हैं, इस कारण वह योग आश्रव नामसे कहा जाता है जैसे कोई गीला कपड़ा वायुके द्वारा लायी गई धूलको अपने प्रदेशोंमें ग्रहण कर लेता है अर्थात् चारों ओरसे चिपटा लेता है, ऐसे ही कषायरूपी जलसे गीला यह आत्मा योगरूप वायुके द्वारा लायी गई

कर्मधूलको अपने सर्व प्रदेशोंसे ग्रहण कर लेता है अथवा जैसे कोई गर्म लोहेका गोला पानीमें डाल दिया जाय तो वह गोला चूंकि बहुत तेज लाल गर्म है सो वह चारों तरफसे पानीको खींच लेता है, ऐसे ही कषायकी महती अग्निसे संतप्त हुआ यह जीव योगसे लाये गए कर्मों को सर्व प्रदेशोंसे ग्रहण कर लेता है और इस प्रकारके आश्रव होनेमें आत्मप्रदेश परिस्पंद साक्षात् निमित्त है और वह हुआ मन, वचन, कायके अभिमुख होकर, इस कारण यहाँ तीन योगोंको आश्रव कहा गया है। अब यहाँ भी जिज्ञासा होती है कि कर्म दो प्रकारके माने गए हैं—(१) पुण्यकर्म और (२) पापकर्म। तो क्या वहाँ अविशेषतासे वह योग आस्रवणका कारण है या कुछ उन दोनोंमें भेद है ? अर्थात् पुण्यकर्मका आश्रव हो, पापकर्मका आश्रव हो, दोनों एक समान विधिसे हैं अथवा इनमें कुछ अन्तर है इसके उत्तरमें सूत्र कहते हैं—

शुभः पुण्यस्या शुभः पापस्प ॥ ६-३ ॥

(१०) **शुभयोग और अशुभयोगका स्वरूप, विश्लेषण एवं कार्य**—शुभयोग पुण्य का आश्रव करता है और अशुभयोग पापका आश्रव करता है। शुभयोग क्या होता हैं ?.... उत्तर—शुभपरिणामपूर्वक होने वाला योग शुभयोग कहलाता है। शुभयोग भी तीन प्रकारके हैं—(१) शुभकाययोग, (२) शुभ वचनयोग, (३) शुभ मनोयोग। और अशुभयोग भी तीनों ही प्रकारके हैं—(१) अशुभ काययोग, (२) अशुभ वचनयोग और (३) अशुभमनोयोग। शरीरसे खोटी चेष्टायें होनेको अशुभकाययोग कहते हैं। जैसे कोई जीवहिंसाकी प्रवृत्ति करता है, चोरी, मैथुन आदिक प्रवृत्तियाँ करता है तो वह अशुभ काययोग है। कोई पुरुष झूठ बोलता है, कठोर वचन कहता है तो वह अशुभ वचनयोग है। कोई पुरुष विचार गंदे रखता है, किसीको मारनेका विचार, किसीसे ईर्ष्या करनेका विचार, किसीसे मात्सर्य रखनेका विचार, तो वह अशुभ मनोयोग कहलाता है, ऐसे ही अशुभयोग अनन्त प्रकारके होते हैं—अब शुभ-योग सुनो— जीवदया, हिंसासे निवृत्तिका परिणाम, अचौर्यभाव, ब्रह्मचर्यभाव ये सब शुभकाय योग हैं। सच हितकारी परिमित बोलना शुभवचनयोग है। वीतराग प्रभुकी भक्ति, तपश्च-रणकी प्रीति, श्रुतशास्त्रका विनय आदिक विचार शुभमनोयोग कहलाते हैं। ये सब अध्यव-साय कहलाते हैं। अध्यवसायके स्थान यद्यपि असंख्यात लोक प्रमाण है फिर भी अनन्ता-नन्त पुद्गलसे बँधे हुए जो कर्म हैं ज्ञानावरणादिक उनके क्षयोपशमके भेदसे वे तीनों योग अनन्त प्रकारके हो जाते हैं, क्योंकि जितना उनमें क्षयोपशम उदय आदिक पड़े हैं उतने ही अनन्तानन्त प्रदेश वाले कर्मोंका ग्रहण होता है और फिर जीव अनन्तानन्त हैं, उस दृष्टिसे तीनो योग अनन्त प्रकारके हो जाते हैं।

(११) **शुभयोगसे विषय स्वरूपके विषयमें चर्चा**—यहाँ एक बात विशेष जानना

कि जो शुभ अशुभ योगमें शुभ अशुभपना है वह इस कारणसे नहीं है कि जो शुभकर्मका कारणभूत योग हो वह अशुभयोग कहलाये, क्योंकि शुभयोग होनेपर भी ज्ञानावरणादिक अशुभ कर्मोंका बंध चलता रहता है। फिर शुभ अशुभपना किस प्रकार है ? जिसमें साता-वेदनीय आदिक पुण्य प्रकृतियोंका विशेद आस्रव हो उसका निमित्तभूत योग शुभ है, पाप-प्रकृतियोंके आस्रवका निमित्तभूत योग अशुभ है। अथवा यहाँ यह अवधारण करना कि शुभ योग ही पुण्यका आस्रव करता है, इससे यह सिद्ध होगा कि कुछ शुभयोग होने पर भी पाप का आस्रव होता रहता है।

(१२) **पाप और पुण्यके विषयमें स्वरूप निरुक्ति, विश्लेषण आदिकी चर्चा**—पुण्य शब्दकी निरुक्ति है 'पुनाति आत्मानं अथवा पूयते अनेन' इति पुण्यं जब कर्तृसाधनकी विवक्षा हो तो उस स्वतंत्रताकी विवक्षामें तो यह निरुक्ति हैं कि जो आत्माको प्रीति उत्पन्न कराये, हर्ष उत्पन्न कराये वह पुण्य है और जब करणसाधनकी विवक्षा हो, जिसकी रीति परतंत्रता की विधिका प्रयोग है तो वहाँ अर्थ होता है कि हर्षरूप होता है जिसके द्वारा वह पुण्य कह-लाता है। वे पुण्य प्रकृतियाँ क्या हैं सो स्वयं इस ग्रन्थमें आगे कहा जायगा कि साता वेदनीय आदिक पुण्य प्रकृतियां हैं। पाप पुण्यका प्रतिपक्षी है और पाप शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है 'यातिरक्षति आत्मानं शुभपरिणामात् इति पापं,' धातुके अर्थकी दृष्टिसे अर्थ होता है कि जो आत्माको शुभ परिणामसे बचाये उसे पाप कहते हैं अर्थात् शुभ परिणाम न होने दे, खोटे परिणाम रहें वह पाप है। पाप कर्म असातावेदनीय आदिक हैं सो आगेके अध्यायोंमें कहेंगे। यहाँ शङ्काकार कहता है कि जैसे बेड़ी चाहे सोनेकी हो अथवा लोहेकी हो, उस बेड़ीके प्रयोग से परतंत्रता होना यह इससे समान ही पाया जाता है तो फल तो बराबर ही रहा। पुण्य भी परतंत्रताका कारण रहा, पाप भी परतंत्रताका कारण रहा, क्योंकि पुण्यफलमें भी संसार में ही रहना पड़ता, पापके फलमें भी संसारमें रहना पड़ता, तो समान ही निमित्त बना रहा केवल कल्पनाका भेद करना अच्छा नहीं। वास्तविकतापर ध्यान दें तो दोनोंका निमित्तभूत जो योग है वह एक समान है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि हाँ एक दृष्टिसे ऐसा ठीक है मगर इष्ट और अनिष्टका निमित्त होनेसे उन दोनोमें भेद है। पुण्यकर्म तो इष्टगति जाति शरीर इन्द्रिय विषय आदिकका निर्माण करने वाला है और पापकर्म अनिष्ट गति जाति शरीर आदिक सभी अनिष्ट विषयोंका रचने वाला है। यह उनमें भेद है, सो जो शुभ योग है वह तो पुण्यका आस्रव करता है और जो अशुभ योग है वह पापका आस्रव करता है।

(१३) **शुभ अशुभ योग व पुण्य पापके सामर्थ्योंका संदर्शन**—यहाँ शंकाकार कहता है कि जब शुभ परिणाम होते सन्ते घातिया कर्मोंका बंध होता ही रहता है, तो यह विभाग

करना गलत रहा कि शुभ परिणाम पुण्यके आश्रवका कारण है, लो शुभ परिणाम तो पाप का भी आश्रव कराता है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह पुण्य पापकी जो चर्चा है वह अघातिया कर्मकी दृष्टिसे समझना। अघातिया कर्मोंमें जो पुण्य है उनमें आश्रवका कारण अशुभयोग है अथवा शुभयोग पुण्यका ही कारण है, यह निश्चय नहीं कर रहे, किन्तु यह निश्चय करना कि शुभयोग ही पुण्यका कारण है, इससे यह भी बात आ गयी कि शुभयोग होते हुए भी घातिया कर्मोंका, पाप कर्मोंका आश्रव हो सकता है। शंकाकार पुनः कहता है कि यदि शुभ पापका और अशुभ पुण्यका भी कारण होता है तो जो आगममें बताया है कि सब कर्मोंका उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट संक्लेशसे बताया गया है और जघन्य स्थिति बंध मंद संक्लेशसे बताया गया है। तो ये दोनों ही बातें जो आगममें कही है वे निरर्थक हो जायेंगी। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि इन दोनों सूत्रोंका अर्थ यों देखें कि तीव्र संक्लेश से उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और मंद संक्लेशसे जघन्य स्थितिबंध जो बताया है सो अनुभाग बंधकी अपेक्षा जानना, क्योंकि फलमें मुख्य निमित्त अनुभाग बंध होता है। कितने ही कर्मपरमाणु बँध जायें और कितनी ही स्थितिके बँध जायें, यदि उनमें अनुभाग विशेष नहीं है तो वह फल विशेष नहीं दे सकता। तो चारों प्रकारके बंधोंमें अनुभाग बंध बड़ा प्रबल बंध है। सो यह अर्थ लेना कि समस्त शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभाग बंध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामसे होता है और समस्त अशुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभाग बंध तीव्र संक्लेश परिणामसे होता है और स्पष्ट बात फिर यह है कि जैसे लोकमें कोई पुरुष बहुत तो उपकार करता है और कदाचित् थोड़ा अपकार भी कर दे तो लोग उसको उपकारक ही मानते हैं, ऐसे ही शुभयोग होनेपर कुछ पापकर्मका बंध भी हो जाय तो चूंकि अधिक पुण्यका ही बंध है इस कारण उसे पुण्यबंधका ही कारण कहा जाता है। अब यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि क्या ये आश्रव समस्त संसारी जीवोंके समान फल देनेके हेतुभूत हैं या कुछ विशेषता है ? इसके समाधानमें सूत्र कहते हैं—

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ६-४ ॥

(१४) **आस्रवकी द्विविधताका व आस्रवके स्वामीका वर्णन**—कषायसहित जीवोंके साम्परायिक आश्रव होते हैं और कषायरहित जीवके ईर्यापथास्रव होता है। चूंकि आश्रवके दो प्रकारके स्वामी हैं। इस अपेक्षासे आश्रवके दो भेद कहे गए हैं। यद्यपि आश्रवके स्वामी अनन्त हैं। जितने जीव हैं उन सबमें परस्पर भेद भी हैं, तिसपर भी उन सब जीवोंको एक दृष्टिसे संक्षिप्त किया जाय तो दो प्रकारोंमें आते हैं। कोई कषायसहित है, कोई कषायरहित है, कषाय किसे कहते हैं ? जो आत्माको कसे उसे कषाय कहते हैं। 'कषति आत्मानं इति

कषाय, क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार परिणाम आत्माका घात करते हैं, कसते हैं, इसे दुःखी कर डालते हैं। बेचैन हो जाते हैं आत्मा कषायोंसे ग्रस्त होकर। और फिर अगले भव में कुगति भी मिलती है सो आगे भी उसका फल भोगना पड़ता है। तो आत्माको ये कषायें चोंटती हैं, घात करती हैं इस कारण इन्हें कषाय कहते हैं। अथवा कषायें दूध, गोंद आदिक की तरह कर्मोंको चिपकाती हैं इसलिए वे कषाय कहलातीं। जैसे बड़ आदिकके पेड़से जो गाढ़ा दूध अथवा गोंद जैसा निकलता है वह दूसरे पदार्थोंको चिपकानेमें कारण है, ऐसे ही क्रोधादिक भाव भी आत्माको कर्मसे चिपकानेमें कारण बन जाते हैं या आत्मासे कर्मको चिपकनेमें कारण बनते हैं, इस कारण कषायकी तरह होनेको कषाय कहते हैं। जो इन कषायोंसे युक्त भाव हैं वे सकषाय कहलाते हैं। और जो कषायोंसे रहित है, जहाँ कषायें नहीं पायी जातीं वह अकषाय कहलाता है। तो कषायसहित जीवके साम्परायिक आश्रव है, कषायरहित जीवके ईर्यापथाश्रव है।

(१५) साम्परायिक न ईर्यापथ आस्रवका निरुक्त्यर्थ भावार्थ स्वामित्व आदि विषयक चर्चा—साम्पराय शब्दमें मूल शब्द है सम्पराय और उसकी व्युत्पत्ति है कि चारों ओरसे कर्मोंके द्वारा आत्माको पराभव होना सो साम्पराय है। 'कर्मभिः समन्तात आत्मनः पराभवः इति साम्परायः,' और यह साम्पराय जिसका प्रयोजन हो, जिसका कार्य हो इस साम्परायके प्रयोजन वाला काम साम्परायिक कहलाता है। इन दोनों आश्रवोंमें साम्परायिक आश्रव कठिन है, कठोर है, संसारका बढ़ाने वाला है, संसारफल देने वाला है, सुख दुःखका कारण है, किन्तु ईर्यापथास्रव केवल आता है और तुरन्त निकल जाता है, आत्मामें ठहरता नहीं है। ईर्यापथ शब्दमें दो शब्द हैं—(१) ईर्या और (२) पथ। ईर्या नाम है योगकी गतिका, ईरणं ईर्या अर्थात् आत्मप्रदेशपरिस्पंद होना इसे कहते हैं ईर्या, और ईर्याके द्वारसे जो कार्य होता है उसे कहते हैं ईर्यापथ। 'ईर्याद्वारं यस्य तत् ईर्यापथं' इस सूत्रमें दो पद हैं और दोनोंमें द्वन्द्व समास है और इसी कारण दोनों ही पद द्विवचनमें हैं, जिनका विभक्ति अनुसार अर्थ है कि कषायसहित जीवके साम्परायिक कर्मका आश्रव होता है। कषायरहित जीवके ईर्यापथकर्मका आश्रव होता है। मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक इन १० गुणस्थानोंमें कषायका उदय रहता है। सो कषायके उदयसे सहित जो परिणाम है ऐसे परिणाम वाले जीवके योगके वशसे कर्म आते हैं और वे गीले चमड़ेमें धूल लगनेकी तरह स्थित हो जाते हैं वे साम्परायिक कर्म कहलाते हैं, और ११वें गुणस्थानसे लेकर १३वें गुणस्थान तक उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय और सयोगकेवली ये तीनों कषायरहित हैं, वीतराग हैं, किन्तु योगका सद्भाव है तो इसके योगके वशसे जो कर्म आते हैं सो आयें तो सही, पर कषाय न

होनेसे बंध नहीं होता। जैसे सूखी भींत पर कोई लोंधा गिर जाय तो वह तुरन्त ही अलग हो जाता है, चिपटता नहीं है, इसी प्रकार कषाय न होनेसे वह आत्मा सूखेकी तरह है। वहां जो कर्म आते हैं वे डलेकी तरह तुरन्त दूर हो जाते हैं, इसका नाम है ईर्यापथ।

(१६) **सकषाय अकषाय शब्दोंके सूत्रोक्त अनुक्रमकी मीमांसा**—एक शंकाकार कहता है कि इस सूत्रमें पहले पदमें दो स्वामियोंका वर्णन किया है—१–कषायसहितका और २–कषायरहितका। तो इन दो स्वामियोंके बीच प्रशंसनीय तो कषायरहित है, इस कारण कषायरहित शब्द पहले कहना चाहिए था फिर सकषाय शब्द बोलते। इस नीतिका उल्लंघन क्यों किया गया? इसके उत्तरमें कहते हैं कि बात तो यह सही है। अकषाय आत्मा पवित्र है, पूज्य है और सकषाय आत्मा उससे निकृष्ट है, किन्तु पहिले कुछ वर्णन सकषाय जीवके बारेमें होना है। अकषाय जीवके बारेमें क्या विशेष वर्णन होगा? वहां कर्म स्थितिको ही प्राप्त नहीं होते। तो बहुत वक्तव्यता होनेसे सकषाय शब्दको पहले रखा गया है और इस कारण साम्परायिक होता है सो दूसरे पदमें प्रथम साम्परायिक शब्द रखना पड़ा है। यहां यह बात शिक्षामें आती है कि जीव यदि अपने स्वरूपकी संभाल करे, पूर्वकृत कर्म का उदय होने पर कषायकी छाया आये भी तो भी ज्ञानदृष्टिके बलसे वहां बंध अति अल्प होता है और जब कषायका संस्कार ही न रहे, निमित्तभूत मोहनीय कर्म भी न रहे, उसका विपाक न आये तो छाया भी न पड़ेगी तो वहां फिर योगवश जो कर्म आयेंगे वे ईर्यापथ हैं। इस जीवका संसारमें भ्रमण कराने वाला कषायभाव ही है। अब जिज्ञासा होती है कि जब साम्परायिक आस्रव पहला वक्तव्य है, इसके विषयमें बहुत अधिक वर्णन किया जाना है तो उसके पहले भेद बतलावो कि साम्परायिक आस्रवके कितने भेद हैं। इसी जिज्ञासाकी पूर्तिके लिए सूत्र कहते हैं।

इन्द्रियकषायांव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ।६-५।

(१७) **साम्परायिक आस्रवके भेद**—इन्द्रियां ५, कषाय ४, अव्रत ५ और क्रिया २५, ये सब मिलाकर ३९ साम्परायिक आस्रवके भेद हैं। इन्द्रियका लक्षण पहले कहा गया था वे दो प्रकारकी हैं (१) द्रव्येन्द्रिय और (२) भावेन्द्रिय। इनके विषय ५ होते हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द। इन ५ विषयोंमें इन्द्रियकी वृत्ति होनेसे कर्माश्रव होता है और वह साम्परायिक आश्रव होता है। कषायें चार होती हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। क्रोध गुस्साको कहते हैं, मान गर्व करनेको कहते हैं, माया छल कपटको कहते हैं और लोभ तृष्णा करनेको कहते हैं। ये चारो कषायें साम्परायिक आश्रवके मुख्य कारण हैं। ५ अव्रत हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, किसी प्राणीका ख्याल करके उसके मारने, बध करने,

पीटने, नुक्सान पहुंचाने आदिकका विचार रखते हुए जो खुदको दुःखी और परको दुःखी करना है वह हिंसा कहलाती है। असत्यसम्भाषण करना, दूसरोंको अहितकर वचन बोलना यह झूठ है। बिना दूसरेके दिए हुए, स्वामीके भीतरी अभिप्रायके बिना चीज लेनेको चोरी कहते हैं। परस्त्री या परपुरुषके प्रति कामवासनाका भाव रखना कुशील कहलाता है। बाह्यपदार्थों में तृष्णा करना परिग्रह है। क्रियायें २५ होती हैं जो कि साम्परायिक आस्रवके कारण हैं। इन क्रियावोंमें कोई क्रिया शुभ है कोई क्रिया अशुभ है, सभी क्रियायें कर्मके आस्रवका कारण हैं।

(१८) **सम्यक्त्वक्रियादि साम्परायिक आस्रवसम्बन्धित दश क्रियावोंका निर्देश**— [१] सम्यक्त्वक्रिया—चैत्यगुरु शास्त्रकी पूजा आदिक करनेरूप सम्यक्त्वको बढ़ाने वाली क्रिया सम्यक्त्वक्रिया कहलाती है। यद्यपि सुननेमें यह भली लग रही है और शुभ भी है, परन्तु आश्रवके प्रकरणमें जिन घटनावोंमें परिणामोंमें रागका अंश भी हो, चाहे वह शुभ है तो भी वहाँ आश्रव बताया गया है, इस क्रियामें शुभ आश्रव होता है। [२] मिथ्यात्वक्रिया—रागी द्वेषी देवताओंका स्तवन करना, कुगुरु आदिककी भक्ति करना, जो मिथ्यात्वहेतुक है वे सब प्रवृत्तियाँ मिथ्यात्वक्रिया कहलाती है। [३] प्रयोगक्रिया—शरीरादिकके द्वारा जाना आना आदिक प्रवृत्ति करना प्रयोगक्रिया है। इस क्रियामें वीर्यान्तिरायका, ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर अंगोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे प्राप्त मन, वचन, कायकी चेष्टायें चलती हैं अथवा इन योगोंके रचनेमें समर्थ पुद्गलका ग्रहण करना भी प्रयोगक्रिया है। [४] समादान-क्रिया—संयम धारण करनेपर भी कुछ अविरत भावकी ओर झुकना सो समादानक्रिया है। [५] ईर्यापथक्रिया—ईर्यापथाश्रवके कारणभूत जो भी परिस्पंदात्मक क्रिया है वह ईर्यापथके कर्ममें निमित्तभूत है। परिस्पंदरूप चेष्टाको ईर्यापथक्रिया कहते हैं। [६] प्रादोषकीक्रिया—क्रोधके आवेशमें जो भी चेष्टायें होती हैं वे प्रादोषकी क्रिया कहलाती हैं। इससे कर्मोंका आश्रव होता है। यहाँ एक अन्तर समझना कि क्रोध प्रदोषमें कारण होता है अतः क्रिया कारणके भेदसे क्रोधकषाय और प्रादोषकी क्रियामें भेद है। क्रोध तो बिना बाह्य निमित्तके भी होता है अथवा क्रोध प्रदोषके निमित्तसे नहीं है, किन्तु प्रादोष क्रोधरूप निमित्तसे होता है। जैसे माया चुगलीके स्वभाव वाला कोई व्यक्ति इष्ट स्त्रीहरण, धनका विनाश आदिक निमित्तोंके बिना भी क्रोध करता है, जिसको ईर्ष्या लगी है ऐसा पुरुष प्रकृत्या क्रोध करता है तो क्रोध निमित्त है और प्रादोष उसका कार्य है। [७] कायकी क्रिया—प्रादोषके बाद जो चेष्टायें होती हैं उस प्रादोषयुक्त पुरुषका उद्यम कायकी क्रिया कहलाती है। [८] आधिकरणकी क्रिया—हिंसाके उपकरणोंको ग्रहण करनेसे जो विकार जगता है वह आधिक-

रणकी क्रिया कहलाती है। [९] पारितायिकी क्रिया—दूसरोंको दुःख उत्पन्न करने वाली चेष्टा पारितायिकी क्रिया कहलाती है। [१०] प्राणातिपातिकी क्रिया—आयु इन्द्रिय बल आदिकका वियोग करने वाली चेष्टायें प्राणातिपातिकी क्रिया कहलाती हैं याने ऐसी क्रिया जिससे प्राणघात हो, ऐसी क्रियासे अशुभ आश्रव होता है।

(१९) **दर्शनक्रियादिक साम्परायिकास्रव संबंधित पांच क्रियावोंका निर्देश—** [११] दर्शनक्रिया—रागसे कषायसहित होकर किसी सुन्दर रूपके देखनेका अभिप्राय करना दर्शनक्रिया है। जो रूप इष्ट लगता हो उस रूपको देखनेका भाव होना वह दर्शनक्रिया है। देख सके या न देख सके, देखनेका भाव ही किया तो वही आत्माके लिए क्रिया हो गई, क्योंकि कर्मोंका आश्रव जड़की क्रियासे नहीं होता, किन्तु आत्मभावमें विकार आनेसे कर्मका आस्रव होता है। [१२] स्पर्शनक्रिया—प्रमादके वश होकर जिस चीजको छूना चाहिए, जो इष्ट लग रहा हो उसको छूनेका अनुभव करना, छूनेका अभिप्राय करना वह सब स्पर्शन क्रिया है। ये सब साम्पराय आस्रवके कारण बताये जा रहे हैं जिससे संसारमें रुलना होता है। यहां एक शंका होती है कि जब इन्द्रियको भी आस्रवका कारण कहा है तो देखना, छूना यह तो इन्द्रियमें ही गर्भित हो जाता और यह क्रिया अलगसे क्यों कही जा रही? तो उत्तर इसका यह है कि पहले जो ५ इन्द्रियोंको साम्परायिक आस्रवका कारण कहा है वहां तो इन्द्रियविज्ञान अर्थ लेना है और इस क्रियाके प्रकरणमें इन्द्रियसे ज्ञान करनेके पूर्वक आत्माके प्रदेशोंमें परिस्पंद हुआ, कुछ चेष्टा हुई यह भाव लेना है। [१३] प्रात्ययिकी क्रिया—कोई नया अधिकरण बना, नई चीज बनी, नया साधन बना विषयका या कषायका उस साधनके बननेको प्रत्यायिकी क्रिया कहते हैं। [१४] समन्तानुपात क्रिया—स्त्री, पुरुष, पशु आदि जिस जगह बैठा करते हों, रहा करते हों उस जगह मलमूत्रका क्षेपक्ष करना समंतानुपात क्रिया है। इन सब क्रियावोंसे साम्परायिक आस्रव होता है। [१५] अनामुक क्रिया—बिना शोधे हुए, बिना देखे हुए जमीन पर बैठ जाना सो जाना अपने शरीरके अंगोंका निक्षेपण करना यह अनामुक क्रिया है। इन सब क्रियावोंमें प्रमाद कितना बसा हुआ है इस कारण इन क्रियावोंसे साम्परायिक आश्रव होता है।

(१६) स्वहस्तक्रिया—जो क्रिया दूसरेके द्वाराकी जानी चाहिए उस क्रियाको स्वयं करना यह स्वहस्तक्रिया कहलाती है। जैसे बाल नाई बनाया करते हैं और कोई खुद ही रेजर उस्तरा आदिसे बाल बना ले तो यह स्वहस्तक्रिया है। ये आश्रवके ही कारण बताये जा रहे। इसमें कोई यह सोचे कि ऐसी स्वहस्त क्रिया नहीं होनी चाहिये, सो ऐसी ऐसी अनेक क्रियायें चल रही हैं, जिनसे आश्रव होता है तो यह भी आश्रव है अथवा दूसरेमें काम कराये वहाँ भी

आश्रव है वह भी आश्रवमें गिना है। तो कर्मोंका आश्रव जिनसे होता है वे सब क्रियायें बतायी जा रही हैं। अपने हाथसे करे वहाँ भी आश्रव दूसरेसे कराये वहाँ भी आश्रव। आश्रवके भेद बताना यह प्रयोजन है। (१७) निवर्ग क्रिया—पाप ग्रहण करना आदिककी प्रवृत्ति विशेषका ज्ञान करना या सुगमतया होना यह निसर्गक्रिया कहलाती है। (१८) विदारण क्रिया—आल· स्यसे शुभ क्रियाको न करना और दूसरेके द्वारा किए गए पापादिक कार्योंका परिग्रहण करना विदारण क्रियायें कहलाती हैं। [१६] आज्ञाव्यापा रिकी क्रिया—जैसी शासनमें आज्ञा है आवश्यक कार्य करना चाहिए, उन क्रियावोंको कर्मोदयवश नहीं कर सकते हैं तो उसका अन्य प्रकारसे अर्थ लेना, निरूपण करना आज्ञाव्यापारि की क्रिया है। कोई व्रत नियम ले रखा है और वह विशिष्ट चरणानुयोगके अनुसार पालन नहीं कर सकता है तो उसका अन्य प्रकारसे निरूपण करना वह आज्ञाव्यापारिकी क्रिया है। [२०] अनाकांक्षक्रिया—मूर्खतासे या आलस्यमें आगममें बताई हुई विधिके अनुसार कर्तव्य न कर सके, उन कर्तव्योंमें अनादर भाव रखे तो वह अनाकांक्षक्रिया कहलाती है।

(२०) आरम्भक्रियादिक साम्परायिकास्रवसंबंधित पांच क्रियावोंका निर्देश— [२१] आरम्भक्रिया—छेदना भेदना आदिक क्रियावोंमें तत्परता होना या दूसरे लोग कोई छेदन भेदन आदिक आरम्भ कर रहे हों तो उसमें हर्ष परिणाम होना आरम्भ क्रिया कहलाती है। [२२] पारिग्राह्यकी क्रिया—परिग्रह नष्ट न हो, सुरक्षित रहे, कहाँ धरना, कहाँ जमा करना, उसके अविनाशके लिए जो संकल्प विकल्प हैं या चेष्टायें हैं। वे सब पारिग्राह्यकी क्रियायें कहलाती हैं। [२३] मायाक्रिया—ज्ञान दर्शन आदिकके विषयमें प्रवंचना करना, छल कपट करना मायाक्रिया है। जैसे कोई जानता है और कोई पूछे तो न बताना चाहे तत्त्वोपदेशकी या चर्चाकी बात किसी प्रयोजनसे हो तो भी उसे टाल देना, अन्य उत्तर देना यह मायाक्रिया हुई। या जैसे कोई जानता नहीं है और कोई पूछ रहा है तो उस सम्बन्धमें मूर्खता जाहिर न हो तो कपट करके अन्य प्रकार उत्तर देना या समय टालना सब मायाक्रिया है। [२४] मिथ्यादर्शन क्रिया—मिथ्यादर्शनके कार्योंके करनेमें या करानेमें जो लगे हों उनकी उनको प्रशंसा आदिक करके ऐसे ही कुकार्योंमें दृढ़ कर देना मिथ्यादर्शनक्रिया कहलाती है। इस क्रियामें इस तरहकी स्तुति सी होती है कि आप बहुत अच्छा कर रहे हैं, कितना ऊँचा आपका तपश्चरण है आदिक बातें कह कर मिथ्यादर्शन वाली क्रियावोंमें उन्हें दृढ़ कर देनेको मिथ्यादर्शन क्रिया कहते हैं। [२५] अप्रत्याख्यानक्रिया—संयमको घातने वाले कर्मोंके उदयसे विरक्त निवृत्ति त्यागका परिणाम न होना, त्याग न कर सकना अप्रत्याख्यान क्रिया कहलाती है।

(२१) **संख्यावोंका इन्द्रियादिका साथ अनुक्रम योजन व इन्द्रियादिका आत्मासे भेद अभेदकी मीमांसा**—इस सूत्रमें जो संख्याके नाम दिये गये हैं वे नाम पूर्वपदमें दिए गए नामों में क्रमसे लगते हैं। जैसे ५ इंद्रिय ४ कषाय, ५ अव्रत और २५ क्रियायें, ये सब किसके भेद हैं? यह बतानेके लिए सूत्रमें पूर्वस्य शब्द आया है। इससे पहले सूत्रमें दो प्रकारके आस्रव बताये गए थे। साम्परायिक और ईर्यापथ उनमें से पूर्वके ये भेद हैं अर्थात् साम्परायिक आ-स्रवके ये भेद हैं। भेद तो असंख्यात प्रकारके हो सकते, पर उन सब असंख्यात प्रकारके आ-स्रवोंका संक्षेप किया जाय तो वे मूलमें चार भेद रूप और उनके सूत्रोक्त उत्तर भेदोंको गिनने से ३९ भेद होते हैं। यहां एक शङ्काकार कहता है कि इन्द्रिय कषाय अव्रत क्रियायें जो भी यहाँ बतायी जा रही हैं वे क्या आत्मासे भिन्न हैं या अभिन्न है? यदि ये भिन्न हैं तो आ-त्माके आस्रव कैसे कहलाये जा सकते हैं? यदि ये अभिन्न हैं तो वे सब आत्मा ही रहे, फिर आश्रव क्या कहलाये? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि इन्द्रिय आदिक आत्मासे कथञ्चित भिन्न हैं और कथञ्चित अभिन्न हैं। यह बात अनेकान्त विधिसे समझना चाहिए। जब अनादि पारिणामिक चैतन्यरूप द्रव्यार्थिककी दृष्टि करते हैं अथवा केवल एक रूपमें निरखते हैं तो इन्द्रिय आदिकका भेद वहाँ नहीं जचता इस लिए उस दृष्टिमें अभिन्न है, और जब कर्म के उदय क्षयोपशमके निमित्तसे होने वाली पर्यायकी दृष्टिसे निरखते हैं तो उनमें परस्पर भेद है और आत्मस्वरूपसे भी भेद है। इस कारण वे भिन्न हैं। दूसरी बात यह भी है कि इन्द्रिय आदिकके वियोग हो जाने पर भी द्रव्यका अवस्थान रहता है इस कारण आत्मामें और इस इन्द्रिय आदिकमें भिन्नता है। और इस भिन्नताके आधार पर ही पर्यायकी दृष्टिसे ५ आदिक जो संख्यायें बतायी है, उनका निर्देश ठीक बैठता है।

(२१) **क्रियामें इन्द्रिय कषाय अव्रत गर्भित हो जानेसे इन्द्रियादिकके ग्रहण करनेकी अनर्थकताकी आशंका और उसका समाधान**—अब यहाँ एक शंका होती है कि इन्द्रिय कषाय और अव्रत ये भी तो क्रिया रूप ही हैं, क्रियाके स्वभावसे ये अलग नहीं हैं, इस कारण एक क्रियाके कहनेसे ही इन सबका बोध हो जाता, फिर इन्द्रिय, कषाय और अव्रत इनका ग्रहण करना निरर्थक है या केवल एक विस्तार बनाना मात्र है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि इन्द्रिय कषाय और अव्रतसे जो पृथक् ग्रहण किया गया है उसका कारण है और वह कारण अनेकान्तसे स्पष्ट होता है। यहां यह एकान्त नहीं चल सकता कि इन्द्रिय, कषाय और अव्रत ये क्रिया स्वभाव ही हैं। कैसे यह एकान्त न चलेगा? देखिये इन्द्रिय, कषाय और अव्रत चार-चार रूप समझिये—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। उनमेंसे नाम, स्थापना और द्रव्य इन तीन निक्षेपोंसे परखे गये ये शब्द क्रिया स्वभाव नहीं बैठते। जैसे कि नाम इन्द्रियमें क्रिया

नहीं है, नाम मात्र है वह तो और स्थापना रूप इन्द्रियमें भी मुख्य क्रिया नहीं है, उनका तो एक वचन और बुद्धिमें स्थापनाकी प्रवृत्ति मात्र हुई है। कहीं परिस्पंद नहीं हुआ। पर इस द्रव्यनिक्षेपकी दृष्टिसे जो इन्द्रिय कहलाती है, अतीत कालकी इन्द्रिय या भविष्यकालमें हो सकने वाली इन्द्रिय उनमें अभी परिस्पन्द कहाँ है ? क्योंकि द्रव्यनिक्षेपका विषय वर्तमानकाल नहीं होता। जैसे जो पहले कोतवाल था और अब न रहा तो उसे लोग कोतवाल साहब कहते हैं। यहाँ द्रव्यनिक्षेपका विषय है अथवा जो अभी राजा नहीं है, राजपुत्र है और वह राजा बनेगा तो उसे अभीसे राजा कहना यह द्रव्यनिक्षेपका विषय है। ऐसे ही इन्द्रियमें भी द्रव्यनिक्षेपकी इन्द्रिय अतीत और भविष्य है। वहाँ तो वर्तमानपना है ही नहीं इसलिए परिस्पंदकी क्रिया भी नहीं है। इसी प्रकार नाम स्थापना और द्रव्यनिक्षेपसे कषाय और अव्रतोंमें भी घटित कर लेना। अतः यह एकान्त न रहा कि इन्द्रिय, कषाय और अव्रत, यह क्रियास्वभाव ही है, क्यों कि यहाँ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयसे यह परखा जाता है कि जब द्रव्यार्थिकनय गौण हो और पर्यायार्थिकनय प्रधान हो तब इन्द्रिय, कषाय और अव्रतको कथञ्चित् क्रियारूप कह सकते हैं और जब पर्यायार्थिकनयको गौण किया जाय और द्रव्यार्थिकनयकी मुख्यता की जाय तब इन्द्रिय, कषाय, अव्रतका लक्षण और है और २५ क्रियावोंका लक्षण और है, अतः इन सबका आश्रवके भेदोंमें निर्देश किया गया है।

(२३) **इन्द्रिय कषाय अव्रत शब्दोंकी निरर्थकताके प्रतिषेधके विषयकी अन्य मीमांसा**—एक शङ्काकार कहता है कि यहां ऐसा अर्थ लगाना चाहिए कि इन्द्रिय कषाय और अव्रत ये शुभ और अशुभ आस्रव परिणामके अभिमुख हैं, इसलिए द्रव्यास्रवरूप हैं और भावास्रव कर्मोंका ग्रहण करना है और वह कर्म २५ क्रियावोंके द्वारा आता है। इस कारण से इन्द्रिय, कषाय और अव्रतका ग्रहण किया है, यह समाधान भी बन जायगा। इसके उत्तर में कहते हैं कि इस तरहका अर्थ और समाधान करना उचित नहीं है, क्योंकि इसमें प्रतिज्ञात कथनसे विरोध होता है। अभी पूर्व सूत्रोंमें यह बताया गया कि शरीर वचन और मन की क्रिया योग है और वह आस्रव है। तो इन सूत्रोंसे द्रव्याश्रवका निरूपण किया गया है। अथवा वहाँ निमित्तनैमित्तिक विशेषका ज्ञान करानेके लिए इन्द्रिय आदिकका पृथक् ग्रहण किया गया है। छूना, चखना, सूंघना आदिक क्रोध, मान आदिक, हिंसा आदिक ये ही तो इन्द्रिय, कषाय और अव्रत हैं। तो ये क्रियायें आश्रव हैं और ये २५ क्रियायें इन क्रियावोंसे उत्पन्न होती हैं। तो यदि इन्द्रिय, कषाय, अव्रतको क्रियारूपसे देखा जाय तो यह क्रिया तो कारण बनती है और जो २५ क्रियायें कही गई हैं वे क्रियारूप बनती हैं, जैसे मूर्छा, ममत्व परिणाम करना कारण है तो परिग्रह संचय होना कार्य है। और इन दोनोंके होनेपर जो

पारिग्राहिकी क्रिया बनी है, परिग्रहकी तृष्णा और उसके रक्षणका ध्यान बनानेमें जो परिग्रह की क्रिया बनी है वह भिन्न ही रही, तो इससे यह सिद्ध है कि इन्द्रिय कषाय आदिकका ग्रहण करना आश्रवका विवरण स्पष्ट करनेके लिए युक्त ही है। और भी देखिये जैसे क्रोध करना कारण है और दूसरेसे मनमुटाव होना यह कार्य है और इससे प्रादोषकी क्रिया होती है, और भी देखिये—मान कषाय कारण है और नम्र न रहे, इठलाये यह कार्य है और इससे प्रात्यायिकी क्रिया बनती है सो वह भिन्न सिद्ध होती ही है। प्रात्यायिकी क्रियामें कुछ अधिकरणको ग्रहण करना या रचना आदिक विचार चलते हैं। और भी उदाहरण लीजिए, जैसे माया कारण है और कुटिलता करना कार्य है और इससे फिर मायाप्रवृत्तिरूप क्रिया होती है। और भी उदाहरण हैं, जैसे प्राणोंका घात करना कारण है और प्राणातिपातिकी यह क्रिया है, और भी जैसे झूठ, चोरी, कुशील ये पाप कारण हे और इन अव्रत कारणोंका आज्ञाव्यापादिकी क्रिया कार्य है मायने आज्ञा न मानना और जो शास्त्रोंमें लिखा है उसका अर्थ विपरीत करने लगना कार्य है। तो इस प्रकार इन्द्रिय, कषाय और अव्रत ये कारण रूप होते हैं और २५ क्रियायें कार्यरूप हैं। अतः इन सबका सूत्रमें जुदा-जुदा निर्देश करना युक्त ही है।

(२४) सूत्रमें कषाय, अव्रत, क्रियाका ग्रहण करनेकी निरर्थकताकी शंकाका समाधान—अब यहाँ एक शका और होती है कि सिर्फ इन्द्रियका ही ग्रहण करना चाहिए था, उस ही से समस्त आश्रव होते हैं। उत्तर—यह शंका सही नहीं है, क्योंकि इन्द्रियका अभाव होनेपर भी कहीं आश्रव पाया जाता है तो यहाँ उस आश्रवकी बात नहीं कही जा रही जो इन्द्रियकी अपेक्षासे ही कहा जाय, किन्तु साम्परायिक आश्रवका यहाँ कथन है। शंकाकारका कहना यद्यपि स्थूल दृष्टिसे ठीक है कि केवल इन्द्रियको ही साम्परायिक आश्रवका कारण मान लिया जाय तो सूत्र बहुत ही छोटा बन जायगा और जितनी भी क्रियावोंमें मनुष्य लोग प्रवृत्ति करते हैं वे इन्द्रियके द्वारा कुछ प्राप्त करके विचार करके क्रियावोंमें प्रवृत्ति करते हैं। सो इन्द्रिय कहनेसे ही सब अर्थ निकल आता। कषाय, अव्रत और क्रियावोंका ग्रहण न करना चाहिए, यह बात स्थूल दृष्टिसे ठीक लगती है, और सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि इन्द्रियविषयका अभाव होनेपर भी कहीं आश्रव पाया जाता है। यदि इन्द्रियविषयको ही आश्रव कहा जाय तब तो छठे गुणस्थान तक ही आश्रव बनता है। अप्रमत्त अर्थात् ७वें और ७वें गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थानोंमें फिर आश्रव नहीं बनता, क्योंकि प्रमत्त पुरुष ही चक्षु आदिक इन्द्रियके द्वारा रूपादिक विषयोंके सेवनके लिए अनुरक्त होता है अथवा प्रमत्त पुरुष याने कषायसहित पुरुष जिसको प्रमादयुक्त

कषाय है वह विषयोंका सेवन न भी करे तो भी हिंसा आदिकके कारणभूत अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण वाली ८ कषायोंसे युक्त है ना, इस कारण वह हिंसा आदिक करता ही है। भावकी अपेक्षा देखिये तो चाहे वह विषयसेवन करे या न करे, प्रमादी होनेसे निरंतर कर्मोंका आश्रव करता है। इस अप्रमत्त व्यक्ति याने जिसके इन्द्रिय, कषाय अव्रत विषयक प्रमाद न रहे, केवल योग और प्रमादरहित कषाय ही है वह भी आश्रव करता है, सो केवल इन्द्रियविषयको ही आश्रवोंका कारण माननेपर फिर इन आश्रवोंका ग्रहण न होगा। अथवा एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तकके जीवोंमें किसीके मन नहीं, किसीके कान नहीं, किसीके आँख नहीं, किसीके नाक नहीं, किसीके जीभ नहीं, तो इनके न होनेपर भी क्रोधादिक हिंसा होती ही रहती है, कर्मोंका आश्रव होता ही रहता है। तो यदि सूत्रमें केवल इन्द्रियका ही ग्रहण किया जाय, अन्यका ग्रहण न हो तो इसका संग्रह करनेके लिए सूत्रमें इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, क्रिया इन सबका ग्रहण किया गया है।

(२५) **सूत्रमें केवल कषाय अथवा केवल अव्रत शब्दका ही ग्रहण करनेकी शंकाका समाधान**—यहाँ कोई शंकाकार अब यह शंका रख रहा है कि जिस जीवमें रागद्वेष नहीं है वह तो इन्द्रियसे विषय ग्रहण करता है, न हिंसा आदिक कोई पाप करता है इस कारण सिर्फ कषाय ही साम्परायिक आश्रवका कारण हुआ। अतः सिर्फ कषायका ही ग्रहण किया जाय, इन्द्रिय कषाय और अव्रतका ग्रहण न किया जाय। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यदि साम्परायिक आश्रवके भेदका निरूपण करने वाले इस सूत्रमें केवल कषायका ही ग्रहण करते, अन्यका ग्रहण नहीं करते तो कषायके सद्भावमात्रमें भी आश्रवका प्रसंग आ जायगा, याने जिन जीवोंके कषाय उपशान्त हैं, पर सत्तारूपमें पड़ी हैं सो चक्षु आदिक इन्द्रियके द्वारा रूपादिकका ज्ञान तो हो ही रहा है। अब उसके रागद्वेष हिंसा आदिककी उत्पत्तिका प्रसंग हो जायगा। और भी सोचिये—चक्षु आदिकके द्वारा रूपादिकका ज्ञान करनेमात्रसे कोई रागद्वेष हो जाय तो कभी कोई वीतराग हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह तो ज्ञानका काम है और इन्द्रिय एक साधन है, इन्द्रियद्वारसे इस अवस्थामें रूपादिकका ज्ञान किया जा रहा है वह तो होता ही है ज्ञान किन्तु चक्षु आदिकके द्वारा रूपादिकका ज्ञान होने पर भी कोई व्यक्ति वीत-राग रह सकता है इस कारण कषायमात्र ही सूत्रमें ग्रहण किया जाय ऐसा सुझाव ठीक नहीं है। यहाँ कोई यदि यह शङ्का करे कि फिर तो केवल सूत्रमें अव्रत ही कहा जावे, उसमें ही इन्द्रिय कषाय और क्रियाके परिणाम गर्भित हो जायेंगे तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्यों कि पृथक् ग्रहण करनेसे यहाँ प्रवृत्तिके निमित्तका स्पष्टीकरण हो जाता है। उस अव्रतरूप परिणामके इन्द्रिय आदिक परिणमन निमित्त कहलाते हैं। अर्थात् इन्द्रिय कषाय और क्रिया

निमित्तभूत हैं और अव्रतरूप परिणति होना नैमित्तिक है। यह सब स्पष्ट करनेके लिए सूत्र में इन्द्रिय, कषाय अव्रत और क्रिया इन चारोंका पृथक् पृथक् ग्रहण किया गया है। अब यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि तीनों योगों द्वारा जन्य साम्परायिक आस्रवके जो ३९ प्रभेद बतलाये हैं वे तो सभी आत्मावोंके कार्य हैं। सभी संसारी जीवोंमें पाये जाते हैं, तब उनका फल भी सभी जीवोंमें एक समान होगा। इसके समाधानमें कहते हैं कि ऐसा नहीं है। यद्यपि तीनों योग प्रत्येक आत्मामें सम्भव है संसारी जीवोंमें फिर भी उनके परिणाम अनन्त प्रकार के हैं और उन परिणामोंसे उनमें फलमें भी विशेषता आती है। तो वह विशेषता किस प्रकार है उसके लिए सूत्र कहते हैं।

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६-६॥

(२६) **आस्रवमें विशेषता करने वाले हेतुवोंका वर्णन**—तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरणविशेष और वीर्यविशेषके कारण आस्रवोंमें विशेषता होती है। तीव्र भावका अर्थ है कि बाहरी और भीतरी कारण मिलने पर उदीरणा और तीव्र उदयमें आया हुआ तीव्र परिणाम जिसमें संक्लेश बसा है वह तीव्रभाव कहलाता है। तीव्र शब्दमें तीव्र धातु है, जिसका अर्थ है संक्लेशपरिणाम। 'तीव्रनं तीव्रः,' तीव धातु स्थूल अर्थमें आता है, मोटे परिणाम अर्थात् संक्लेश परिणामको तीव्र परिणाम कहते हैं। मंदभाव तीव्र भावसे उल्टे भाव मंदभाव कहलाते हैं, ये भी बाह्य और आभ्यंतर कारणसे होते हैं, पर कषायोंकी यहाँ मंदता पायी जाती है। यहाँ कषायोंकी उदीरणा नहीं है। ऐसे साधारण कारणोके सान्निध्यमें उत्पन्न हुआ अनुद्रिक्त परिणाम अर्थात् मंदकषाय वाला परिणाम मंद कहलाता है। मंद शब्द मंद धातुसे बना है। मंद धातुका अर्थ है प्रसन्न होना, सुस्त पड़ना, मंद चालसे चलना। मंदनात्मंदः, ऐसी उसकी निरुक्ति है। ज्ञात भावका अर्थ है ज्ञानमात्र भाव अथवा जान करके प्रवृत्ति होना। मारनेके परिणाम न होने पर भी हिंसा हो जाने पर मैंने मारा, ऐसा जान लेना ज्ञात भाव है अथवा इस प्राणीको मारना चाहिए, ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञातभाव है। ये ज्ञातभावके उदाहरण हैं। जैसे लोकव्यवहारमें कहते हैं कि यह जान बूझकर पाप कर रहा है। अज्ञातभाव—प्रमादसे या कुछ बेखबरीसे क्रियावोंमें बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञातभाव है। जैसे कि लोग कहते हैं कि यह बेचारा जानता नहीं है, बिना जाने कर रहा है. अधिकरण— अर्थात् आधारभूत द्रव्य। किस पदार्थका आश्रय करके वह प्रवृत्ति कर रहा है, किस पदार्थपर उसकी दृष्टि लग रही है वह कहलाता है अधिकरण। वीर्यभाव द्रव्यकी शक्तियोंको कहते हैं। यहाँ भाव शब्द प्रत्येकके साथ लगाना चाहिए तीव्र भाव, मंदभाव आदिक।

(२७) **सूत्रोक्त भावशब्दका प्रकृतार्थ**—इस सूत्रमें जो भाव शब्द कहा है उसका अर्थ सत्ता नहीं है। सद्भाव, सत्त्व यह भावका अर्थ नहीं है। यदि सत्ता मात्र भावका अर्थ होता तो सत्ताकी सामान्यरूपता होनेसे इसके तीव्र आदिक भेद नहीं हो सकते थे, किन्तु भाव का अर्थ यहाँ बौद्धिक व्यापार है। उपयोगका व्यापार इस भावका अर्थ है। इन भावोंके होने में परद्रव्य आश्रयभूत होते हैं। तो जो आश्रयभूत हुए उन्हें नोकर्म भी कहते हैं। उनके भाव दो प्रकारके निरखिये—(१) एक तो परिस्पंदरूप और (२) अपरिस्पंद रूप। अपरिस्पंद रूप भाव तो अस्तित्वादिक है और वह अनादि है। जिसमें हलन चलन नहीं, क्रिया नहीं, वह अपरिस्पंद कहलाता है। परिस्पंदात्मक भाव उत्पाद व्यय रूप है और आदिमान है। अपरिस्पंद भाव तो सामान्यात्मक है और उस दृष्टिसे तीव्र आदिकका भेद नहीं हो सकता, किन्तु कामादिक क्रियारूप जो भाव है वह तीव्र आदिकके भेदके हेतु होते हैं। मतलब यह है कि तीव्र आदिक भावोंसे, बौद्धिक व्यापारोंसे विशेषता आती है अथवा ये सभी भाव उस कालमें आत्मासे अभिन्न हैं सो तीव्रादिक भाव ही तो हैं। एक एक कषाय आदिकके स्थानमें असंख्यात लोक प्रमाण भाव हैं। सो परिणमन परिणाम ही भाव शब्दके अर्थ हैं। सत्तारूप भाव यहाँ नही लिया गया है।

(२८) **आत्माका परिणाम होनेपर भी वीर्य शब्दके पृथक् ग्रहणका प्रयोजन**—एक शंका होती है कि वीर्य तो आत्माका परिणाम है। उसका पृथक् ग्रहण क्यों किया है? उत्तर—वीर्य विशेष जिनके पाया जाता है उनकी क्रियावोंमें हिंसा आदिक व्यापारोंमें, आश्रव में हल्का भारीपन आ जाया करता है। यह बात दिखानेके लिए वीर्यका पृथक् ग्रहण किया है। जैसे कोई बलवान पुरुष है तो वह हजारों आदमियोंको मार डालता है तो उसका आश्रव विशेष बनेगा। कोई कम वीर्य वाला है वह उपद्रव नहीं कर सकता है तो उसका आश्रव कम होगा अथवा केवल वीर्यसे ही बात न चलेगी। शक्ति और शक्ति न होनेपर भी जैसा भीतरमें परिणाम हो उस तरहसे आश्रव बनेगा। जिसके शक्ति कम है और परिणामोंमें ईर्ष्या, बुरा विचारना आदिक तीव्रतासे हो रहे हैं तो उसके तीव्र आश्रव होगा। आश्रवके जो हेतु बताये जा रहे हैं उनमें ऐसा तो है नहीं कि एक ही भाव किसी जीवके हो, जैसे तीव्र मंदमें से कुछ एक होगा, पर उसके साथ ज्ञाता द्रष्टा आदिकमें से भी होता है, इस कारण एक भावकी ओरसे पूरा निर्णय न बनेगा कि इसके आश्रव कम होगा या अधिक होगा। जब कार्यभेद है तो कारणभेद भी सब सिद्ध हो जाता है, जब कि आश्रवके भेद अनन्त हैं अनुभाग की दृष्टिसे तो उसके कार्य भी अनन्त हो गए और कार्य अनन्त हुए, तो कारण भी अनन्त हैं, ऐसा अनुमान बनता है, यहां सूत्रका प्रयोजन है आश्रवभेद बताकर फलभेद बताना याने

तीव्र आदिसे भावोंको जो आश्रव होगा उसका फल कठोर होगा। और ऐसी आश्रवविधि जानकर भव्य पुरुष उसके साधनोंसे हटेगा। यदि वीर्यको आत्मपरिणाम मानकर यहां ग्रहण करनेकी जरूरत न समझे तो ऐसा ही विचार अन्यके प्रति भी हो सकता है। वह भी आत्मपरिणाम होता है। तो इस प्रकार तो सिर्फ अधिकरण शब्दसे ही कार्य चल जाता, क्योंकि तीव्र मंद ज्ञात आदिक जो भाव हैं वे जीवाधिकरणरूप हैं, फिर तो सूत्र ही बनानेकी आवश्यकता न थी। आगे स्वयं ही ऐसा सूत्र आने वाला है,' अधिकरणं जीवाजीव:,' मगर यहां विशेषता बताना आवश्यक है। यह ग्रंथ मोक्षमार्गका है, भव्य जीव मोक्षमें प्रगति कर सकें, उस मार्गपर चल सकें, इसके लिए ही तो सारा विवरण है। तो जब विशेषतावोंके साथ आश्रव आदिक बताये जायेंगे तब ही तो आश्रवसे हटना और स्वभावमें लगना यह अभीष्ट होगा। अब यह जिज्ञासा बनती है कि अधिकरण भी कहनेपर उसका स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ, उसका विशेष ज्ञान कराया जाना आवश्यक है, सो उसके विषयमें वर्णन करना चाहिए। उसीके समाधानमें सर्वप्रथम भेद अधिकरणके भेद बनाकर उसका ब्योरा बतायेंगे। सो यहां भेदके निरूपणके द्वारा अधिकरणका स्वरूप जाननेके लिए सूत्र कहते हैं—

अधिकरणंजीवाजीवा: ॥६-७॥

(२६) **जीव और अजीव आश्रवका आधाररूप**—जीव और अजीव आश्रवके अधिकरण हैं। यद्यपि जीव और अजीवकी व्याख्या हो चुकी, फिर भी उनको आश्रवके आधार रूपसे बताते हैं, इस कारण पुन: उनके अधिकरणके रूपसे वर्णन किया जा रहा है। जैसे हिंसा आदिकके उपकरण रूपसे जीव आधार है, अजीव भी आधार है, यहां अधिकरणाश्रवके दो भेद कहे हैं—(१) जीवाधिकरण और (२) अजीवाधिकरण। इसका आगे ब्योरा आयगा उससे यह स्पष्ट हो जायगा, पर यहां सामान्य रूपसे इतना जानना कि चूंकि अनन्त पर्याय वाले जीव और अजीव अधिकरण बनते हैं सो इसकी सूचना देनेके लिए सूत्रमें जीवाजीव: यह बहुवचन कहा गया है। अर्थ है कि जीव और अजीव आश्रवके अधिकरण होते हैं। यहां एक शंका होती है कि इन शब्दोंको एक साथ मिला दिया जाना चाहिए। जीवाजीवाधिकरणं इतना ही सूत्र बनाना चाहिए। सूत्र भी छोटा हो गया और अर्थ भी निकल जायगा इस शंकाके उत्तर में कहते हैं कि यह सुझाव ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ समास बन जाता है और यह समास कर्मधारय और तत्पुरुष इन दो रूपोंमें बनता है, जिससे अर्थ यह होता है कि अजीव ही अधिकरण हैं, और तत्पुरुष समासका यह अर्थ होता है कि जीव और अजीवका अधिकरण है। सो यहां जो सूत्रका अभिप्रेत अर्थ है वह इन दोनों समासोंमें भी नहीं निकलता। जब कर्मधारय समास किया अर्थात समानाधिकरण्य वाला समास किया तो वहाँ केवल जीव अजीवसे विशिष्ट

अधिकरण मात्रका ज्ञान होता। वहाँ आश्रव विशेषका ज्ञान न हो सका इस कारण यह समास ठीक नहीं है। दूसरा भिन्नाधिकरण्य वाला समास है तत्पुरुष समास, तो उस समासमें एक जीव अजीवका आधार मात्र ही ज्ञात हो सका, इससे भी यह नहीं जाना जा सका कि आश्रव विशेष जीव और अजीवके आधारसे होता है। जीव पाप करता है, कराता है, मनसे सोचता है आदिक जो पाप करते, आश्रव होते वे जीवके आधारमें हो रहे और तभी कोई तलवार बनाने वाला पुरुष तलवार बनाते हुए उसकी धारको निरखता है तो उसके मनमें भाव जगता है कि यह तलवार अब खूब काम करेगी, पशु घातके लायक बन गई, तो उस अजीव पदार्थ तलवारके बनानेके प्रसंगमें उसे पाप और आश्रव हो रहे हैं, यह सब रहस्य इन समासोंमें नहीं प्रकट होता है, और फिर जीव और अजीवका आधार अन्य कोई नहीं विदित होता। जीव स्वयं तो आपमें है। अजीव पदार्थ वह अपने आपमें है, तो ये दोनो ही समास ठीक नहीं बैठते इस कारण सूत्रमें जो भिन्न भिन्न निर्देश करके पाठ दिए गए हैं वे पाठ सही हैं, और उससे क्या ध्वनित होता है कि जीव और अजीव आधार है, तो प्रश्न होता है कि किस के आधार है ? तो उत्तर होता है कि आश्रवके आधार है। यहाँ एक बात और समझ लेना है कि आश्रव शब्द इस सूत्रमें तो कहा नहीं गया, उसकी अनवृत्ति लेनी पड़गी तो इससे पहले के जो सूत्र हैं, जिसके प्रकरणमें यह सब विवरण चल रहा है वह है आश्रव। उसका सर्वप्रथम प्रयोग दूसरे सूत्रमें किया गया हैं। स आश्रवः, सो यहाँ आश्रव शब्द प्रथमाविभक्तिके एक वचन में है। पर इस प्रकरणमें उसकी अनवृत्ति करनेपर भी विभक्ति बदल जायगी। षष्ठीका एक वचन यहाँ प्रयुक्त होगा। तब अर्थ हुआ कि जीव और अजीव आश्रवके कारण है अर्थात् आश्रव इसके आधारमें होता है। अब जिज्ञासा होती है कि क्या इतने ही दो भेद हैं या इसके और भी भेद हो सकते हैं ? तो उसके समाधानमें जानना कि इसके और भी भेद हैं जिसमें प्रथम है जीवाधिकरण्याश्रव जो कि साम्परायिक आश्रवका विशेषण है, सो उस जीवाधिकरण्यके भेद कहते हैं।

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय ॥६-८॥
विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥६-८॥

(३०) जीवाधिकरण साम्परायिक आश्रवके प्रकार—आद्यका अधिकरण अर्थात् जीवाधिकरण संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ ये तीन मन, वचन, काय ये तीन योग, कृतकारित अनुमोदना ये तीन और क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय इनके द्वारा उत्पन्न होते हैं, और इन सबमें एक पापमें एक ही द्वार हो, ऐसा नहीं है। यहाँ ४ बातें कही गई हैं—

संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ इन तीनमें से कोई भी एक हो, मन, वचन, काय इन तीन योगोंमें से कोई भी एक हो, करना, कराना, अनुमोदना इन तीनमेंसे कोई एक हो और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारमें से कोई एक हो, ऐसे इस प्रकार एक-एक लेकर चारके समुदायमें आश्रव और पाप होते हैं। जैसे इसमें प्रथम भेद मानिये क्रोधवश होकर मनसे संरम्भ किया, जिसका अर्थ यह है कि क्रोध कषायके आवेगमें मनसे पाप करनेका बदलकर विचार स्वयं किया तो यह एक पाप हो गया, ऐसे ही इसको पापके नाम बनानेसे ये सब १०८ भेद हो जाते हैं। यों साम्परायिक आश्रवके हेतुभूत पापभाव १०८ प्रकारके हैं। इन १०८ प्रकारके भावोंको टालनेके लिए जापमें भी १०८ दानोंपर स्मरण किया जाता है। एक बार प्रभुका नाम लेकर यह भावना की जाती है कि मेरे ये पाप समाप्त हों।

(३१) **सूत्रमें आद्य शब्द ग्रहण करनेका प्रयोजन व संरम्भ समारम्भ व आरम्भका भाव**—यहाँ एक शंका होती है कि इस सूत्रमें आद्य शब्द ग्रहण न करनेसे भी काम चल जाता, अपने आप सामर्थ्यसे ही सिद्धि हो जाती है। वह सामर्थ्य क्या कि इस सूत्रके बाद जो सूत्र आयगा उसमें परम् शब्द पड़ा है अर्थात् दूसरे अधिकरणके ये भेद हैं। तो उससे अपने आप ही यह सिद्ध है कि ये पूर्व अधिकरणके भेद हैं अर्थात् जीवाधिकरणके प्रकार हैं। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यदि आद्य शब्द इस सूत्रमें न देते तो इसको पढ़कर तुरन्त ही कोई स्पष्ट अर्थ न निकलता। एक अनुमान बनाकर अर्थ सोचा जाता तो उसमें जानकारी कठिन हो जाती है। इसलिए स्पष्ट करनेके लिए आद्य शब्द दिया है कि यह भेद जीवाधिकरणरूप है। संरम्भ शब्दका अर्थ है हिंसा करनेके अभिप्राय रखने वालेका जो प्रयत्नका विचार करता है वह संरम्भ है, और समारम्भ क्या हुआ? पापके साधनोंको जोड़ना समारम्भ है और फिर पापमें प्रवृत्ति करना आरम्भ है। कोईसे भी पाप किए जाते हैं तो प्रथम कुछ विचार होता है, फिर उसके साधन बनाये जाते हैं, फिर पाप किए जाते हैं। तो ऐसा सर्वत्र साम्परायिक आश्रवोंके प्रसंगमें ये तीन बातें हुआ करती हैं, भीतर भाव जगना, फिर उसके साधन बनना और फिर उसकी प्रवृत्ति करना। सर्वप्रथम विचार चलता है तो हिंसा आदिक पापोंकी प्रवृत्तियोंमें जो प्रयत्न करनेका संकल्प बनाया कि मैं इससे मारूँगा, यह चीज उठाऊँगा, मैं उसके साथ राग करूँगा या धन जोड़ूंगा आदिक रूपसे जो अभिप्राय बनता है उस अभिप्रायको संरम्भ कहते हैं और जिस कार्यके लिए संरम्भ किया उस कार्यके साधनभूत जो पदार्थ हैं उनका अभ्यास करना। जैसे किसीने यह संकल्प किया संरम्भमें कि मैं इसको लाठीसे मारूँगा या बध करूँगा तो अब लाठी सीखना, तलवार सीखना, इस प्रकारका अभ्यास

बनाना वह समारम्भ हो गया अथवा उसके साधनोंको इकट्ठा करना समारम्भ हो गया। किसी ने परिग्रहकी बुद्धि बनाया कि मैं इस प्रकारसे यह व्यापार करूँगा, दूकान खोलूंगा तो संकल्प तो संरम्भ हुआ, अब उसके साधन जुटाना दूकान बनवाना, किरायेपर लेना, उसका मटेरियल जमा करना यह सब समारम्भ हो गया, और जिस समय प्रारम्भ किया, उस कार्यको शुरू किया तो वह आरम्भ हो गया। ये तीनों शब्द संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ, ये भाववाचक हैं, इस कारण इनकी व्युत्पत्ति भावसाधनमें होगी। 'संरम्भणं संरम्भः, समारम्भणं समारम्भः, आरम्भनं आरम्भः' इस प्रकार ये वस्तुको बताने वाले तीन भेद हुए।

(३२) **काययोग वचनयोग मनोयोग कृतकारित अनुमतका स्वरूप**—संरंभादिके पश्चात् योग आता है। योगका विवरण बहुत पहले कर ही दिया गया है। कायकी क्रिया काययोग, वचनकी क्रिया वचनयोग, मनकी क्रिया मनोयोग अथवा कायकी क्रियाके लिए आत्मपरिस्पंद काययोग, वचनकी क्रियाके लिए आत्मपरिस्पंद वचनयोग, मनकी क्रियाके लिए आत्मप्रदेश परिस्पंद मनोयोग अथवा कार्माणवर्गणावोंका आलम्बन लेकर आत्मप्रदेश परिस्पंद होना काययोग। वचन वर्गणावोंका आलम्बन लेकर आत्मप्रदेश परिस्पंद होना वचनयोग, कायवर्गणावोंका आलम्बन लेकर आत्मप्रदेश परिस्पंद होना काययोग। योगमें मुख्यता आत्मप्रदेश परिस्पंदकी है और काय आदिकके भेदसे भेद करना यह औपचारिक भेद है। योगके बाद सूत्रमें आया है कृतकारित अनुमत। स्वतंत्रतया आत्माके द्वारा जो किया गया वह कृत कहलाता है। किसी भी कृत पापमें दूसरेकी अपेक्षा नहीं की गई, किन्तु यह स्वयं ही उस पापको विचारता है, साधन जोड़ता है और प्रारम्भ करता है। कारित पापमें दूसरके प्रयोगकी अपेक्षा है। कारित कहते हैं कराये हुएको तो कराया हुआ तब ही कहलाता जब दूसरेके आदेश या प्रयोगकी अपेक्षा करके सिद्धि होती है किसी कार्यकी तब उसे कारित कहते हैं। अनुमतका अर्थ है प्रयोजक पुरुषके मानसिक परिणाम करना। जैसे कोई मौनव्रती है, आँखोसे देखने वाला है, उस कार्यको देख रहा है और प्रसंग भी ऐसा है कि उस कार्यका निषेध किया जाना उचित है, पर वह निषेध नहीं करता और उसको ठीक मान रहा तो वहाँ अनुमत नामका पाप लगेगा। ऐसी अनुमोदना करने वालेको अनुमंता कहते हैं। तो एक अनुमंता तो वह हुआ जो चुपचाप उसका अनुमोदन कर रहा। एक दूसरा अनुमंता कराने वाला भी होता है। जब कराने वालेने उसका प्रयोग करवाया तो उस कार्यमें समर्थ आचरण में उसका मन लगा ना तो वह भी अनुमंता कहलाया। तो अनुमत पाप उसे कहते हैं कि कोई करे या कराये, किसी प्रकार कार्य हुआ हो, कार्यके प्रति अनुमोदना करना।

(३३) **कषाय, विशेष व क्रियोपस्कारका कथन**—कृतादिके बाद सूत्रमें कषायका नम्बर आता है। कषायोंका लक्षण अनेक बार कहा ही गया है कि जो आत्माको कसें, कष्ट दें वे कषायें कहलाती हैं। वे कषाये क्रोध, मान, माया, लोभ हैं और उनमें भी सम्यक्त्व घातक कषाय, अगुव्रतघातक कषाय, महाव्रतघातक कषाय और यथाख्यातसंयमघातक कषाय, उनके चार प्रकार होते हैं, पर इस प्रथम सूत्रमें उन सबका संग्रहरूप केवल क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार नाम ही विवक्षित हैं। यहाँ प्रथमपदके अन्तमें विशेष शब्द दिया है जिसका अर्थ होता है कि कोई बात किसी अन्य बातसे जुदा हो उसे विशेष कहते हैं अथवा विशेष बनना सो विशेष है और इस विशेषका प्रत्येक शब्दके साथ जुड़ना होता है। जैसे संरम्भविशेष, समारम्भविशेष, आरम्भविशेष, कृतविशेष आदिक सभीमें विशेष शब्द लगाया जाता है। यहाँ शंकाकार कहता है कि सूत्रमें विशेष शब्द ठीक नहीं संगत हुआ, क्योंकि करण कारकका प्रयोब वहाँ होता है जहाँ क्रियापदका प्रयोग हो। यहाँ कोई क्रिया ही नहीं है फिर विशेष ही यह प्रयोग नहीं बन सकता। क्रियापदके प्रयोग बिना कर्ता, कर्म, करण आदि कारक कैसे बन सकते हैं? अतः सूत्रमें विशेषैः यह शब्द न देना चाहिए। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि यह शब्द वाक्य शेषकी अपेक्षा रखता है, यहाँपर क्रियापद आशयसे समझ लिया जाता है अर्थात् संरम्भ आदिक विशेषोके द्वारा आश्रव भेदा जाता है। अर्थात् आस्रवके भेद बनते हैं, जहाँ क्रियापदका प्रयोग न किया गया हो वहाँ उसकी अपेक्षा रखकर कारककी विवक्षा देखी गई है। जैसे किसीने कहा—शंकुलाखण्ड। शंकुला कहते हैं सरौताको और खण्ड कहते हैं टुकड़ाको तो यहाँ कोई क्रियाका प्रयोग नहीं किया गया, पर अपने आप यह अर्थ ध्वनित हो जाता है कि सरौताके द्वारा किया गया खण्ड। तो जिस क्रियाका कहीं नाम न दिया हो उसका उपस्कार कर लिया जाता है अर्थात् उस क्रियाकी यहाँ सजावट कर ली जाती है। यहाँ भेदका अधिकार तो चल ही रहा है। जैसे ५ वें सूत्रमें आया था कि ये पूर्वके भेद हैं अर्थात् साम्परायिक आस्रवके भेद हैं सो उसी भेदकी ही बात चल रही है। तो यहाँ भी यह अर्थ बन जायगा कि संरम्भ आदिक विशेषों के द्वारा साम्परायिक आस्रवके भेद होते हैं।

(३४) **संख्यायें, संख्याक्रम, संरंभादिप्रथमकथनकारणका वर्णन**—सूत्रमें दूसरा पद है संख्यावोंके समास वाला। ये चार बार संख्यायें आयी हैं—३, ३, ३, ४ इनका क्रमसे सम्पर्क बनाया जाता है कि संरम्भ, समारम्भ आरम्भ ये ३, योग ३ कृतकारित अनुमत ३ और कषायें ४, यहाँ एकशः शब्द जो दिया गया है उसका भाव यह है कि प्रत्येकमें एक-एक संख्याका सम्बन्ध बनाना। अब यहाँ यह बात जानने योग्य है कि इन सबमें पहले संरम्भ

आदिक तीन क्यों कहे गए हैं। इन तीनका सर्वप्रथम कहनेका कारण यह है कि यह वस्तु-रूप है, कार्यरूप है, जब कि अन्य कृत आदिक विशेषण अथवा करणरूप हैं। और ये जो तीन प्रकारके पाप हैं संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ, वे किस-किस प्रकारसे होते हैं, उनके भेदने के कारणभूत बाकी योग आदिक हैं। तो वस्तु होनेसे विशेष्य होनेसे सर्वप्रथम संरम्भ समारंभ और आरंभ, इन तीन शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

(३५) **एकसौ आठ पापोंके नाम बनानेकी विधि**—पापके नाम बनानेके लिए प्रति-लोम विधिसे एक एक नाम लेकर ४ के नामका एक पापका नाम बनता है। जैसे अन्तमें कहा गया है कषाय। तो एक कषायका नाम रखिये उससे पूर्व कहा गया है कृतकारित अनु-मत, इनमें से एक रखिये उससे पूर्व कहा है योग। उन तीन योगोंमें से एक नाम रखिये फिर संरम्भ, समारम्भ, आरम्भमें एक शब्द रखिये तो वह एक पापका नाम हो जायगा। जेसे [१] क्रोध—कृतकायसंरम्भ फिर इसके बाद दूसरे नम्बरके पापका नाम लेनेके लिए उस आखिरीकी ही बदल करिये [२] मानकृतकाय संरम्भ, फिर [३] तीसरा मायाकृत-कायसंरम्भ, फिर [४] चौथा—लोभकृतकाय संरम्भ। चारों कषायोंके आधारपर और सबके पृथक् पृथक् भेदके साथ नाम बन जानेपर अब कषायसे पहले कहे गए कृतादि भेदको बदलना होगा। (५) पांचवां बना क्रोधकारितकायसंरम्भ। [६] मानकारितकाय संरम्भ [७] मायाकारितकायसंरम्भ [८] लोभकारितकायसंरम्भ। यों कारितकी अपेक्षा ४ भेद और हो जानेसे ९ वां भेद बनानेके लिए कृतकारित अनुमतमें से फिर आगे बढ़ते हैं, तो बदलकर अनुमत शब्द रखा जिससे ४ भेद बने [९] क्रोधानुमतकायसंरम्भ, [१०] माना-नुमतकायसंरम्भ, जिसका सीधा अर्थ हुआ कि मानके द्वारा अनुमोदना किया गया कायके पापका विचार [११] ग्यारहवां हुआ मायानुमतकायसंरम्भ और [१२] बारहवां हुआ लोभा-नुमतकायसंरम्भ। जब इस प्रकार संरम्भ पापविषयक १२ भेद हो चुके तब समारम्भके भी इसी प्रकार १२ भेद होंगे। अर्थात् जैसे ये भेद कहे गये हैं, उनके अन्तमें संरम्भ शब्द आया है तो संरम्भके एवजमें समारम्भ शब्द आयगा। समारम्भ भी १२ होते हैं। तब आ-रम्भके भी ऐसे ही १२ भेद करना। तो आखिरी समारम्भके एवजमें आरम्भ शब्द देना, इस प्रकार काय सम्बन्धी पाप ३६ प्रकारके होते हैं। ऐसे ही वचन सम्बन्धी पाप ३६ प्रकारके हैं और मन संबन्धी पाप भी ३६ प्रकारके हैं। यों ये साम्परायिक आस्रवके जीवा-धिकरण १०८ प्रकारके होते हैं अर्थात् जीवका ही आलम्बन लेकर अपने आपके मन, वचन, कायके प्रयोगका आलम्बन लेकर ये १०८ पाप होते हैं।

(३६) **सूत्रोक्त च शब्दसे क्रोधादिके अन्य विशेषोंका संग्रह**—इस सूत्रमें जो च शब्द

दिया है उसके देनेकी आवश्यकता तो न थी, फिर भी दिया है। तो वह निरर्थक होकर एक रहस्यको प्रकट करता है कि कषायें यहां पर ४ कही गई हैं तो उन ४ के भी भेद अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन होते हैं। इस प्रकार ४ का और गुणा करनेसे ये सब ४३२ प्रकारके जीवाधिकरण आश्रव हो जाते हैं। और जो अनन्तानुबंधी आदिक लगाये गए सो उनके साथ सम्बंध होनेसे इन सभीमें जीवाधिकरणपना सिद्ध होता है। जैसे कि नील रंगमें डाला हुआ कपड़ा उस नीलसे रंग जानेके कारण वह भी नीला ही कहलाता है ऐसे ही संरम्भादिक जितनी भी क्रियायें हैं उन क्रियावोंमें अनन्तानुबंधी आदिक कषायोंका सम्बंध होनेके कारण वे भी जीवाधिकरण कहलाती हैं। इस प्रकार जीवाधिकरणके ४३२ भेद बताये गए हैं। अब जगतमें जितने भी पाप होते हैं किसी भी जीवके द्वारा पाप बनते हैं तो वे पाप इन ४३२ में से किसी नाम वाला पाप होता है।

(३७) **साधुजनोंकी निष्पापता**—ये पाप जिसके नहीं होते हैं वे साधु कहलाते हैं या कहो कि १०८ प्रकारके पापोका त्याग होनेसे ही साधुवोंके सम्मानमें १०८ श्री लगाकर बोलते हैं। जैसे कहते हैं श्री १०८ अमुक मुनि महाराज, तो उसका अर्थ है कि श्री एक बार न कह कर श्री श्री ऐसा १०८ बार बोलना चाहिए, फिर उसके बाद मुनि महाराजका नाम लेना चाहिए, पर ऐसा १०८ बार श्री गिनेगा कौन और इतना कहेगा कौन, और कदाचित् कोई इतना कहकर नाम ले तो उसे तो लोग बड़े आश्चर्यके साथ देखेंगे कि इसके दिमागमें क्या हो हो गया? तो उसका एक संकेत है श्री १०८ कहना। साधु महाराजके ये कोई पाप नहीं होते। जो वास्तविक मुनि है वह किसी भी प्रकारके पापका विचार नहीं करता, न उसके साधन जोड़ेगा। जब आशय ही नहीं किसी भी पापका तो साधन जोड़ना और उसका प्रारम्भ करना यह तो हो ही कैसे सकेगा? इस प्रकार न वह पापकर्म करता है, न पापकी अनुमोदना करता है, और इन पापोंके लिए उसके मन, वचन, कायकी वृत्ति भी नहीं होती। उसके कषायें भी नहीं जगतीं। यद्यपि क्रोध, मान, माया, लोभ संज्वलन विषयक साधुवोंके पाये जाते हैं और इस दृष्टिसे देखा जाय तो कुछ पाप तो हो ही रहा है, मगर रूढ़िमें, देखनेमें, अनुभवनेमें जिन पापोंकी बात आती है उन पापोंकी अपेक्षा यह बात कही जा रही है अथवा उनके जो भी क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें रह गई हैं तो उनका रूप बदला हुआ रहता है। कोई आचरण बिगड़ जाय तो उसके लिए क्रोध होगा। अपने आपकी ज्ञानगरिमाको रखनेके लिए अर्थात् ज्ञान स्वरूपसे अपना महत्त्व समझने विषयक मान होगा। कोई विहार आदिकका कार्य करना पड़े और आशय नहीं है या दीक्षा शिक्षा आदिक कृत्य करना पड़ता, उपदेश आदिक करना पड़ता और उसका चाव नहीं है, क्योंकि वे सब परालम्बी बातें हैं तो इस प्रकारकी मायाका प्रयोग

समझ लीजिए। उनको लोभ होता है अपना आचरण पवित्र रखनेका, परिणाम निर्मल रखनेका और अपनी योग्य क्रियावोंसे च्युत न होनेका। यों साधु निष्पाप होते हैं। अब जीवाधिकरणके भेद बतानेके बाद जीवाधिकरणसे विपरीत जो अजीवाधिकरण है उसके भेद बतानेके लिए सूत्र कहते हैं।

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ६-६ ॥

(३८) अजीवाधिकरण आस्रवके भेद—निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग ये क्रमशः दो चार, दो, तीन भेद वाले हैं और ये सब अजीवाधिकरण हैं। निर्वर्तनाका अर्थ है रचना। यह शब्द कर्मसाधनमें लगाना है। जो रचा जाय सो निर्वर्तना 'निर्वर्त्यते इति निर्वर्तना,' इसी प्रकार निक्षेप भी कर्मसाधनमें है, निक्षेपका अर्थ है रखना, जो रखा जाय सो निक्षेप 'निक्षिप्यते इति निक्षेपः' संयोगका अर्थ है मिलाना, यह भी कर्मसाधनमें है। 'संयुज्यते असौ संयोगः' जो मिलाया जाय सो। संयोग। निसर्गका अर्थ है प्रवृत्ति' यह भी कर्मसाधनमें है। 'निसृज्यते असौ निसर्गः,' अथवा इन चारों शब्दोंका भाव साधनमें भी अर्थ किया जा सकता है। रचना सो निर्वतना, निर्वर्तनं निर्वतना, रखना सो निक्षेप, निक्षेपणं निक्षेपः, मिलना सो संयोग संयुक्तिः संयोगः, प्रवर्तन करना सो निसर्ग, निसृष्टिः निसर्गः यहाँ अधिकरण शब्दकी अनुवृत्ति आती है अर्थात् पूर्व सूत्रमें जहां कि अधिकरणके भेद किए गए थे उस ७ वें सूत्रमें जो अधिकरण शब्द प्रयोग किया गया है उसकी अनुवृत्ति ८ वें सूत्रमें भी थी और इस ६ वें सूत्रमें भी करना, तब अर्थ हुआ कि ये सब अजीवाधिकरण आस्रव हैं, अर्थात् इन अजीव पदार्थोंके आलम्बनसे, इनके विचारसे कर्मका आस्रव होता है।

(३६) अजीवाधिकरण आस्रवके भेदोंका स्वरूप—इस सूत्रमें २ पद हैं। प्रथम पदमें तो चार संज्ञायें हैं और उनका समास किया गया है, दूसरे पदमें संख्या शब्दोंका कथन है और ये संख्यायें उनमें क्रमसे लगती हैं अर्थात् निर्वर्तनाके दो भेद है, निक्षेपके चार भेद हैं, संयोगके दो भेद हैं और निसर्गके ३ भेद हैं। निर्वर्तना रचनाको कहते हैं। यह मूल रचना और उत्तर रचनाके भेदसे दो प्रकार है। जीवके साथ सम्बद्ध जो औदारिक आदिक ५ शरीर हैं और वचन, मन, श्वासोच्छ्वास हैं, इनका जो निष्पादन है बनता रहना है, इसका जो बनना है वह मूलनिर्वर्तना है। इसके सहारे जीवके परिणाम होते हैं और उनसे कर्मका आश्रव होता है। जो असम्बद्ध है प्रकट बाह्य क्षेत्रमें है ऐसी चीजोंका निष्पादन करना उत्तरगुण निर्वर्तना है। जैसे कोई काठकी चीज बनाता, चित्र बनाता, तलवार, छुरी आदिक बनाता या धार्मिक ग्रंथपर धार्मिक पुरुषोंके चित्र बनाता, यह सब उत्तरगुण निर्वर्तना है। इससे भी कर्मोंका आश्रव होना है। शुभ हों अथवा अशुभ हों। निक्षेप ४ प्रकारके हैं। निक्षेपका अर्थ है

रखना। बिना देखे हुए जमीनपर चीजका रख देना यह निक्षेपका प्रथम भेद है। इसका नाम है अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण, दूसरा निक्षेपका भेद है दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण अर्थात् बड़े बुरे भावसे, जोरसे चीजका रख देना। जैसे कभी गुस्सा आता हो तो लोटा, थाली आदिक कुछ भी बड़े जोरसे रखे जाते हैं तो बुरे भावसे हींसकर, दुःखी होकर रखना सो यह दूसरा निक्षेप है। तीसरे निक्षेपका नाम है सहसानिक्षेपाधिकरण। जल्दी ही किस चीजको धर देना, धरनेमें जल्दबाजी करना, जल्दबाजीसे कोई चीज रखनेमें हिंसा सम्भव है और उससे कर्मका आश्रव होता है। चौथा निक्षेप है अनाभोग निक्षेपाधिकरण अर्थात् किसी चीजको एक ओरसे रखना, पूरी ही न रखना या बिना विचारे यत्र तत्र रखना यह चौथा निक्षेप है। इन प्रवृत्तियोंसे कर्मोंका आश्रव होता है। संयोगाधिकरण दो प्रकारका है—(१) भोजनपान संयोग, (२) उपकरण संयोग। भोजनपानमें अन्य भोजनपानका संयोग कर देना, ठंडेमें गर्म मिला देना, गर्ममें ठंडा रख देना यह सब प्रथम संयोग हैं। दूसरा संयोगाधिकरण है उपकरण-संयोगाधिकरण। जिस वस्तुपर जोजो वस्तु प्रायः नहीं रख देना या गरम वस्तु पर ठंडी वस्तु रखी जाती उसको रख देना याने अनमेल एक पदार्थमें दूसरा पदार्थ रखना यह उपकरण-संयोगाधिकरण है। जैसे धार्मिक ग्रन्थपर कोई चश्मा आदिक चीज न रखना चाहिए, उससे विनयमें अंतर होता है। पर रख दिया यह उपकरणसंयोग है या शास्त्रके बीच कोई सींक रख देना ख्यालके लिए कि यहाँ तक पढ़ लिया। जो वस्तु जहाँ न रखी जानी चाहिए उसको वहाँ संयोग कराना यह उपकरण संयोग है। निसर्ग आस्रव तीन प्रकारके हैं। शरीरसे प्रवृत्ति करना, वचनसे प्रवृत्ति करना और मनसे प्रवृत्ति करना, इस तरह ये अजीवाधिकरणके भेद कहे गए हैं।

(४०) **सूत्रमें पर शब्दके ग्रहणकी निरर्थकताकी शंका**—यहाँ एक शंकाकार कहता है कि सूत्रमें पर शब्दका प्रयोग न करना चाहिए, क्योंकि इससे पहले सूत्रमें आद्य शब्द आ चुका है कि वे प्रथम अधिकरणके भेद हैं। तो यहाँ अपने आप सिद्ध हो जायगा कि ये दूसरे अधिकरणके अर्थात् अजीवाधिकरणके भेद हैं अथवा यदि इस सूत्रमें पर शब्द रखना है तो पहले सूत्रमें आद्य शब्द न कहना चाहिए, क्योंकि यह एकके कहनेपर दूसरेकी बात अपने आप सिद्ध हो जाती है। जैसे कोई यह कहे कि मेघ न होनेपर वृष्टि नहीं होती तो अपने आप यह बात सिद्ध हो गई कि मेघके होनेपर वृष्टि होती है। यहां कोई यह शंका न करे कि मेघोंके होनेपर वृष्टि होती भी है नहीं भी होती है, तो उसका उत्तर यह है कि वहां ऐसा नियम नहीं बनाया जा रहा। जब यह कहा कि मेघके न होनेपर वृष्टि नहीं होती तो उसका अर्थ यह निकला कि मेघके होनेपर ही वृष्टि होती है। जैसे कोई कहे कि अहिंसाधर्म है तो

दूसरी बात अपने आप सिद्ध ही हो जाती कि हिंसा अधर्म है। तो ऐसे ही यदि आद्य शब्द दिया है पहले सूत्रमें तो इस सूत्रमें "पर" शब्द न कहना चाहिए। यदि इस सूत्रमें 'पर' शब्द दिया जाता है तो प्रथम सूत्रमें आद्य शब्द न कहना चाहिए। यदि कोई ऐसा उत्तर देनेकी कोशिश करे कि "पर" शब्द न देनेसे सम्बंध ठीक नहीं बनता, न जाने किससे सम्बंध बन जाय तो उसका उत्तर यह है कि अन्य किसीका अर्थसे सम्बन्ध बने ऐसा कोई है ही नहीं। प्रकरण दोनोंका चल रहा है जीवाधिकरण और अजीवाधिकरणका। यहां यह संदेह न होगा कि कहीं जीवाधिकरण न मान लिया जाय। उसका तो वर्णन इससे पहले सूत्रमें हो चुका है, वह जीवाधिकरण है। तो बचे हुएके न्यायसे अपने आप अजीवाधिकरण है यहां यह सिद्ध हो जाता है इस कारण इस सूत्रमें पर शब्द कहना अनर्थक है। कोई ऐसी भी आकांक्षा न करे कि यहां पर शब्दका अर्थ प्रकृष्ट मान लेंगे तो क्या यह अजीवाधिकरण प्रकृष्ट हो गया और जीवाधिकरण निकृष्ट हुआ जिससे प्रकृष्ट अजीवाधिकरण माना जाय। यों जीवाधिकरण रद्दी हुआ, अजीवाधिकरण उत्कृष्ट हुआ ऐसा कुछ नहीं है। कोई ऐसी भी आशंका न रखे कि पर शब्दका अर्थ इष्ट मान लेंगे। जैसे कहा कि यह परमधामको गया मायने इष्टधाम गया, ऐसा इष्ट अर्थ मानना क्यों ठीक नही है कि ऐसा माननेपर वह अनिष्ट क्या है जिसके होनेपर यह पर शब्द इष्ट है? कोई निर्वर्त्य नहीं, कुछ भी नहीं, तब पर शब्दका प्रयोग करना अनर्थक है ऐसी यह एक आशंका होती है।

(४१) सूत्रमें "पर" शब्दके ग्रहणकी निरर्थकताकी आशंकाका समाधान—अब उक्त आशंकाका समाधान करते हैं। सूत्रमें जो पर शब्द दिया है और वह अनर्थक नहीं है, क्योंकि इस सूत्रमें पर शब्दसे कुछ रहस्यपूर्ण अन्य अर्थ निकलता है और वह अर्थ यह निकलता कि ये निर्वर्तना आदिक पूर्वोक्त संरम्भ आदिकसे भिन्न हैं। यदि ऐसा ध्वनित न होवे तो जैसे संरम्भ आदिक जीवके परिणाम हैं और वे जीवाधिकरण माने गए हैं ऐसे ही निर्वर्तना आदिक भी जीवके परिणाम मान लिए जायेंगे और वे जीवाधिकरण कहलायेंगे, इस कारण सूत्रमें पर शब्दका ग्रहण किया गया है अथवा सब स्पष्ट करनेके लिए "पर" शब्द ग्रहण किया गया है अथवा इस 'पर' शब्दके द्वारा इष्ट अर्थ भी जाना जा सकता है, वह इष्ट अर्थ वह है जो कि निर्वर्तना आदिकके भेदोंके विवरणमें ध्वनित किया गया है। अब यहां एक जिज्ञासा होती है कि इस आश्रवके प्रकरणमें मन, वचन, कायके परिणाम बताये गए। ये योग हैं और ये आश्रव कहलाते हैं, और इन तीनों योगोंके परिणमन अनन्त ढंगके हैं, पर एक आश्रवका एक वचनमें प्रयोग होनेसे क्या यह सिद्ध होता है कि सभी कर्मोंका आश्रव एक रूपसे होता है। उसका उत्तर संक्षेपमें यह है कि एक ढंगसे सर्व प्रकारके आश्रव नहीं होते। कोई किसी

का किसी कारणसे काय आदिकका व्यापार जैसे होता है उस प्रकारके आश्रव होते हैं। तो उनमें सर्वप्रथम ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आश्रवकी बात कहते हैं।

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्याऽन्तरायाऽऽसादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥६-१०॥

(४२) ज्ञानावरण कर्मके आस्रवके कारण—ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके ये आश्रव कहे गए हैं। वे कौनसे हैं? ज्ञानके विषयमें (१) प्रदोष, (२) निह्नव, (३) मात्सर्य, (४) अन्तराय, (५) आसादन और (६) उपघात। ज्ञानके विषयमें ये परिणाम हों तो ज्ञानावरणका आश्रव होता है और दर्शनके विषयमें परिणाम हों तो दर्शनावरणका आस्रव होता है। प्रदोष किसे कहते हैं? मोक्षमार्गके कारणभूत ज्ञानका कीर्तन होनेपर, उसकी प्रशंसा की जानेपर जिस किसीको बर्दास्त न हो उसके अन्तरंगमें जो बुरे लगने के परिणाम हैं पैशून्य अर्थात् चुगली आदिकके परिणाम हैं वे प्रदोष कहलाते हैं। याने उस ज्ञानकीर्तनके बारेमें पीठ पीछे निन्दा करना, उस ज्ञानके विषयमें दोष बतानेका यत्न करना ये सब प्रदोष कहलाते हैं। जो पुरुष ज्ञानके विषयमें प्रदोष करता है उसके ज्ञानावरण कर्मका आस्रव होता है। दूसरा है ज्ञाननिह्नव—ज्ञानका छुपा लेना। किसी बहानेसे या किसी कार्य का बहाना करके यों कहना कि अभी फुरसत नहीं या हम नहीं जानते, किसी भी रूपसे ज्ञान को छुपा लेना यह ज्ञाननिह्नव है। ऐसे प्रयोगसे ज्ञानावरण कर्मका आस्रव होता है। तीसरा है ज्ञानमात्सर्य—जिसके पास ज्ञान है वह अन्य दूसरेको ज्ञान देवे यह बात युक्त है, किन्तु कुछ ऐसा ख्याल करके कि हमने इसे भी सिखा दिया तब तो इसकी ख्याति प्रसिद्धि हो जायगी तो उससे एक मात्सर्यभाव आया और उस मात्सर्य भावके कारण कोई बहाना करके उसे ज्ञान न देना सो ज्ञानमात्सर्य है। ज्ञानमात्सर्यका भाव करनेसे ज्ञानावरण कर्मका आस्रव होता है जिसके फलमें जब इन कर्मोंका उदय आयगा तो यह मूर्ख रहेगा, खूब सिखाया जाने पर भी इसे विद्या न आयगी। चौथा है ज्ञानान्तराय—खोटे परिणाम होनेसे ज्ञानमें अन्तर डाल देना सो ज्ञानान्तराय है, जैसे किसी विद्यार्थीको कोई छात्रवृत्ति देना चाहे और उसमें कोई विघ्न डाल दे कुछ कह कर या कोई किसीको शास्त्र देना चाह रहा है और उसमें कोई अन्तराय डाल दे, किसी भी प्रकारसे ज्ञानमें अन्तर पड़ जाय उसे ज्ञानान्तराय कहते हैं। ऐसे कर्मोंसे ऐसी ज्ञानावरण प्रकृतियोंका आस्रव होता है कि उसे भी भविष्यमें अनेक विघ्न आते रहेंगे और वह ज्ञान न पा सकेगा। पाँचवां है ज्ञानासादन—कोई दूसरा ज्ञान दे रहा हो या ज्ञानका प्रकाशन करना चाहे तो उस प्रकाशित ज्ञानको शरीर या वचन द्वारा उसको गिरा देना, हटा देना, टाल देना सो यह आसादन है छठा है उपघात—अभिप्राय मलिन होनेसे किसी दूसरेके ज्ञानमें दूषण लगाना कि उसका ज्ञान किस कामका? वह इस तरहसे बोलता

ऐसी प्रवृत्ति होती इस तरहके दोष लगाना यह उपघात कहलाता है और ज्ञानविषयक उपघात करनेसे ऐसे ज्ञानावरण कर्मका आस्रव होता है कि जिससे भविष्यकालमें उसके भी ज्ञान में कोई दूसरा दूषण लगायगा और यह दुःख मानेगा। यह सब ज्ञानविषयक कारण ज्ञानावरण कर्मके आस्रव कराते हैं। यहाँ अन्तमें दो शब्द दिया है—१–आसादन और २–उपघात, तो आसादनमें तो किसीमें विद्यमान ज्ञान हो तो उसका विनय प्रसिद्धि प्रशंसा न कर के उसका अनादर किया जाता है जब कि उपघातमें उसके ज्ञानको अज्ञान ही कह कर, काहे का ज्ञान, सब उल्टा बकवाद आदिकके शब्दसे उसको अज्ञान कहकर उस ज्ञानका नाश ही किया जाता है, तो ऐसे कार्योंसे, परिणामोंसे खोटे कर्मोंका आस्रव होता है।

(४३) दर्शनावरण कर्मके आस्रवके कारण व सूत्रोक्त तत् शब्दसे ज्ञान दर्शनका ग्रहण—जैसे ज्ञानके विषयमें कारण कहा गया है यह ही दर्शनके विषयमें हो तो वहाँ दर्शनावरणका आस्रव होता है। जैसे कोई दर्शन करनेकी बात कहे तो उसके प्रति भीतर ही ईर्ष्याके परिणाम बनें, यह प्रदोष है। कोई दर्शनके लिए पूछे कि राजासाहब या महाराज जी वहाँ हैं क्या? तो नहीं हैं या मुझे नहीं मालूम, ऐसा ही कुछ कह कर उसके दर्शनका लोप कर देना, छुपा देना ऐसी बात सो दर्शननिह्नव है, किसीको कोई किसी बहाने दर्शन ही न दे, छुप जाय या कुछ बहाना कर दे, न मिलना चाहे तो वह दर्शन मात्सर्य है। किसीके दर्शनमें अन्तराय डाल दे, कोई दर्शन करना चाहता है तो कोई ऐसी अड़चन डाल दे कि दर्शन न कर सके यह अंतराय है। या कोई दूसरा दर्शन दे रहा हो तो उसे शरीर वचन आदिककी चेष्टावोंसे रोक देवे, मना कर देवे, यह आसादन दोष है। या किसीके विषयमें दूषण लगाये, उसका क्या दर्शन करना, उसका तो यों आचरण है, यह उपघात है, तो ऐसा दर्शनके विषयमें प्रदोष आदिक करनेसे दर्शनावरणका आस्रव होता है जिससे भविष्यमें यह भी किसी अच्छे पुरुषका, तत्त्वका दर्शन न कर सकेगा। इस सूत्रमें जो तत् शब्द दिया है उससे ज्ञान और दर्शनका निर्देश होता है अर्थात् ज्ञानके और दर्शनके विषयमें कारण प्रदोष निह्नव आदि होना ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवका कारण होता है। यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि तत् शब्दसे ज्ञान और दर्शनका ग्रहण कैसे कर लिया गया है? तो उत्तर यह है कि जब ज्ञानावरण और दर्शनावरणका आस्रव बताया गया है तो तत् शब्दसे अन्य और कुछ ग्रहण कैसे हो सकता? ज्ञान और दर्शनके आवरणकी बात है तो ज्ञान और दर्शनका ही विषय बनेगा।

(४४) ज्ञानावरण दर्शनावरणके आस्रवोंके कारण एक होनेसे ज्ञानावरण व दर्शनावरणमें एकत्वके प्रसंगकी आशंका व उसका समाधान—अब यहाँ एक शङ्का होती है

जब ज्ञानावरण और दर्शनावरणके एक समान आस्रवकारण हैं याने प्रदोष निह्नव आदिक ये ही तो ज्ञानावरण कर्मके आस्रयभूत कारण हैं और ये ही दर्शनावरणके हैं। तो ज्ञानावरण और दर्शनावरणमें एकता आ जायगी, क्योंकि जिसके कारण एक होते हैं वह चीज भी एक हो जाती है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि यह कथन युक्त नहीं है, इसमें तो बड़ा विरोध बनता है। जैसे बताओ जितने भी शब्द निकलते हैं वे कंठ ओंठ आदिकसे ही तो निकलते हैं, चाहे कोई बोले। तो जब वचनोंका कारण एक ही रहा कंठ ओंठ आदिक सभी मनुष्योंके तो वे वचन यदि किसी पक्षके साधक हैं तो सबके लिए साधक कहलायें, यदि बाधक हैं तो सबके लिए बाधक कहलायें। जब यह मान रहे हो कि एक समान कारण होवे तो कार्य एक समान होता है तो वचनोंका कारण एक समान है, तो वचन भी एक समान हो जाना चाहिए जैसे कोई जीवका निषेध करता है तो शब्द तो वे ही हैं तो सब कोई निषेध मान लेंगे। ऐसे ही वचन अगर साधक हैं तो सबके लिए साधक बन जायेंगे सबका साधक बन जाय फिर वादविवाद क्यों होता ? एक समाधानकर्ता एक खण्डनकर्ता, ऐसा क्यों होता, क्योंकि वचन तो एक हो गए क्योंकि उनका कारण एक है। यदि यह कहा जाय कि भले ही वचनोंका कारण एक समान है तो भी कोई वचन अपने पक्षके साधक ही होते और कोई वचन परपक्षके निषेधक ही होते। उन वचनोंमें किसीमें साधकपना है किसीमें दूषकपना है, इसलिए वचन एक नहीं हो सकता। तब उत्तर यह है कि यह तो स्ववचनविरोध हो गया। अभी तो कह रहे थे कि जिसका एक समान कारण होता है वह कार्य सब एक हो जाता है और प्रकृतमें ज्ञानावरण और दर्शनावरणके लिए कह रहे हैं, पर वह कुञ्जी अब गलत हो गई ना, स्ववचनविरोध हो गया तो यह बात युक्त न रही कि जिसके कारण एक हैं वे कार्य एक समान कहलाते हैं, और फिर प्रत्यक्ष व आगमसे भी बाधा आती है। जो लोग यह कहते हैं कि जिसका कारण एक समान है, वह कार्य भी एक समान है इस बातमें प्रत्यक्षसे भी बाधा है और आगमसे भी बाधा है, प्रत्यक्षमें देखते हैं कि घड़ा, सकोरा, गगरी, सुराही आदिक सब एक मृत्पिण्डसे बनते हैं, मिट्टीसे बनते। वही कुम्हार बैठा है, चक्र दंड भी वही है तो जब एक समान कारण मिल गए तब तो ये घड़ा, सकोरा, गगरी आदिक भिन्न-भिन्न कार्य क्यों बने ? इन्हें न बनना चाहिए। तो प्रत्यक्षमें बाधा आती आगमकी बाधा सभीके यहाँ है, सांख्य लोग महान् अहंकार शरीर विकार आदिक सबका प्रधान कारण एक मानते हैं, तो जब एक ही कारण प्रधान है तो उसके कार्य सब समान होने चाहिएँ, पर वे भी अनेक तरहके कार्य मानते। बौद्ध लोग पुण्य अपुण्य संसार आदिकका कारण एक मानते हैं अविद्या, तो जब कारण एक है अविद्या तो वे कार्य अनेक क्यों हो

गए ? वहाँ भी यह बात मानी गई कि भले ही कारण एक हो फिर भी कार्य अनेक प्रकारके होते हैं। नैयायिक लोग अर्थ नेत्र आदिकका सन्निकर्ष मानते हैं इसलिए सन्निकर्ष तो सन्निकर्ष ही है, एक प्रकारका कारण है, पर उससे भिन्न कार्य क्यों हुए ? वे भिन्न कार्य मानते। रूपका ज्ञान, रसका ज्ञान, सुख होना, दुःख होना, अनेक प्रकारके कार्य होते, तो उनको भी वह इष्ट न रहा कि समान कारण हों तो कार्य समान ही होते हैं।

(४५) **ज्ञानावरण व दर्शनावरणके आस्रवोंके कारणोंका एक समान कहे जानेका कारण**—अब एक जिज्ञासा होती है कि तब फिर ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रव समान ही क्यों कहे गए ? उसका उत्तर यह है कि जब इन दोनों आवरणोंका पूर्ण क्षय हो जाता है तो केवली भगवानमें एक साथ ही केवलज्ञान और केवलदर्शनका विकास हो जाता है। जैसे सूर्यमें प्रताप और प्रकाश ये दोनों एक साथ रहते हैं इसी प्रकार ज्ञान और दर्शनका जब विकास होता है तो एक साथ ही विकास होता है। इस कारण पहिले याने सावरणदशा में इनके आस्रव एक समान ही रहे, किन्तु जो आवरणसहित ज्ञान है वहाँ ज्ञान और दर्शनकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है। जैसे जो जल गर्म हो गया है याने जलके साथ अग्निका समवाय बनाते हैं तो जलमें प्रताप तो है, गर्मी तो है, पर प्रकाश नहीं है। और जैसे दीपकके प्रकाश में प्रकाश तो है, किन्तु प्रताप नहीं है ऐसे ही जो साधारण लोग होते हैं छद्मस्थ जीव होते हैं उनके जिस समय ज्ञानोपयोग होता है उस समय दर्शनोपयोग नहीं और जिस समय दर्शनोपयोग होता है उस समय ज्ञानोपयोग नहीं।

(४६) **प्रभुकी त्रिकालदर्शिताकी मीमांसा**—यहाँ एक आशंका होती है कि जो पदार्थ अतीत हो चुके याने जो पर्याय गुजर चुकी और जो पर्याय अनागत है आगामी कालमें होगी उनके विषयमें दर्शन किस तरहसे हो जायगा ? दर्शन तो सामने वर्तमान रहने वाले पदार्थका हुआ करता। जो घटना गुजर चुकी, जो घटनायें अभी नहीं आयीं, भविष्यमें आयगी उनके विषयमें दर्शन कैसे बनेगा, क्योंकि दर्शनका लक्षण घटित नहीं होता। दर्शनका दर्शन तो छुवे हुए विषयसे हुआ करता है और ज्ञान बिना छुवे अविषयमें हुआ करता है, पर जो अतीत है वह तो नष्ट हो चुका, जो अनागत है, भविष्यका है। वह अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ तो यों दोनों ही असत् हैं, न अतीतकी अब सत्ता है और न भविष्यकी अब सत्ता है। तो उनका छूना और उनका विषय होना यह कैसे बन सकता है ? और जब अतीत और भविष्यका स्पर्श व विषय न हुआ तो यों ही कह लीजिए कि ज्ञान ही दर्शन कहलाया, फिर केवली भगवानको त्रिकालदर्शी कैसे कहा गया है ? यदि दर्शनकी बात कहना है तो उन्हें वर्तमानदर्शी कहना चाहिए। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि जो यह बताया गया है कि दर्शन छुवे

हुए पदार्थका होता है यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रभुका ज्ञान निरावरण होता है और निरावरण होनेपर वहाँ ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं। जैसे कोई सूर्य मेघपटलके बीच आया है तो उसका प्रकाश और प्रताप कम हो जाता है और जब मेघपटल हट गए तब सूर्य का प्रकाश और प्रताप दोनों एक जगह हो जाते हैं। जहाँ प्रताप है वहाँ ही प्रकाश है। तो इसी तरहसे केवलज्ञानरूपी सूर्य जब तक आवरणमें था तब तक अनेक दशायें चलती थीं, किन्तु जब आवरण हट गया तो प्रभुके अचिन्त्य माहात्म्य और विभूतिविशेष प्रकट हो गया फिर उनका जहाँ ज्ञान है वहाँ दर्शन अवश्य है। और जहाँ दर्शन है वहाँ ज्ञान भी अवश्य है। और भी सुनो यह तो माना ही जा रहा है शङ्काकारके द्वारा कि केवली भगवान असद्भूतको जानते हैं याने जो पर्याय गुजर गई है, जो पर्याय आगे होगी उसको जान लेते हैं और बिना उपदेश किए हुए को जान लेते हैं, तो ऐसे ही हम पूछते हैं कि असद्भूतको और अनुपदिष्टको भगवान देख लें तो इसमें कौन सी बाधा आती है? और भी सुनो जैसे न छुवे हुए अविषयभूत पदार्थमें बिना उपदेशके छद्मस्थको ज्ञान नहीं हो पाता, जिसके ज्ञानावरण लगा है, दर्शनावरण भी लगा है वह बिना छुवेको बिना उपदेशके नहीं जान सकता। क्या इसी तरह केवलीके बारेमें भी आपकी मान्यता है कि वे भी अस्पृष्टको नहीं जान सकते? यदि कहो कि केवली भगवानके विषयमें ऐसी मान्यता नहीं है अर्थात् वह सबको जान लेता है तो जैसे आवरण सहित जीवको छुए और विषयमें दर्शन होता है उस तरह केवलीके नहीं माना जा सकता। केवली भगवान तीन कालके पदार्थोंको जानने वाले हैं और देखने वाले हैं, हाँ अवधिज्ञानकी बात और तरह है। अवधिज्ञानी पुरुषके आवरण हैं तो भी अवधिदर्शनावरणका क्षयोपशम तो निरन्तर निरपेक्ष है सो केवलदर्शनकी तरह बिना उपदेशके ही अतीत और भविष्यके पदार्थोंके छुवे बिना भी अवधिदर्शन होता है।

(४७) **मनःपर्ययदर्शनका उल्लेख न होनेका कारण**—यहाँ एक शंकाकार कहता है कि एक दर्शन मनःपर्ययदर्शन भी मान लीजिए। जैसे अवधिज्ञानावरणकी जोड़ीमें अवधिदर्शनावरण माना है ऐसे ही मनःपर्ययज्ञानावरणकी जोड़ीमें मनःपर्ययदर्शन भी मान लेना चाहिए याने उसी तरह मनःपर्ययज्ञानावरणके साथ मनःपर्ययदर्शनावरण भी बन जाना चाहिए। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि मनःपर्ययदर्शन माननेका कोई कारण नहीं है। मनःपर्ययदर्शनावरण तो है ही, क्योंकि चार ही दर्शनावरण बताये गए हैं। तो जब मनःपर्ययदर्शनावरण नहीं तो उसका क्षयोपशम भी कहाँसे होगा? फिर क्षयोपशम निमित्तक मनःपर्ययदर्शन होना चाहिए, सो वह कैसे होगा? प्रधान बात यह है कि मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञानकी तरह अपने आप स्वतंत्रतया अपने आप विषयमें नहीं लगता याने अवधिज्ञान तो अपने आप अपनी ही

शक्तिसे, अपने क्षेत्रके अंदर सब कुछ जान लेता है, पर मन:पर्ययज्ञान जब अपने विषयमें अपने मुखसे नहीं प्रवर्तता है। तो फिर कैसे बनता है मन:पर्ययज्ञान ? दूसरेके मनकी प्रणालीसे मन:पर्ययज्ञान बनता है। जैसे मन अतीत और भविष्यके पदार्थोंका चिंतन करता है, पर देखता नहीं है, ऐसे ही मन:पर्ययज्ञानी भी भूत और भविष्यके पदार्थोंको जानता है, पर देखता नहीं है। वर्तमान मन भी विषयविशेषके आकारसे जानता है इस कारण मन:पर्ययवृत्ति सामान्यपूर्वक नहीं है। वह दूसरेके मनकी प्रणालीसे जानता है याने दूसरा पुरुष अपने मनमें क्या-क्या सोच रहा है, क्या सोचेगा उस मनकी प्रणाली जैसी है उसरूपसे मन:पर्ययज्ञान जगता है। वह स्वमुखसे नहीं जगता। अवधिज्ञान स्वमुखसे जगता है। सो वहाँ अवधिज्ञान स्वमुखसे जगता है, तो उसके साथ अवधिदर्शन भी बनता है, पर मन:पर्ययज्ञान अपने आपके मुखसे नहीं जगता, इस कारण वहाँ मन:पर्ययदर्शन नहीं है।

(४८) **ज्ञानावरण व दर्शनावरणके आस्रवकारणोंका विषयभेदसे भेद**—एक शंकाकारने यह कहा था कि ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आश्रव एक ही समान प्रदोष निह्नव आदिक हैं सो ज्ञानावरण दर्शनावरणको एक हो जाना चाहिए। ये भिन्न-भिन्न दो क्यों है ? उसके विषयमें काफी उत्तर दिया गया है। तो भी यहाँ यह और समझ लीजिए कि ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आश्रवके कारण भिन्न भिन्न भी विदित होते हैं और वह भिन्नता विषयभेदसे बनी याने ज्ञानके सम्बंधमें प्रदोष निह्नव हों और दर्शनावरणके विषयमें प्रदोष निह्नव हो तो विषयभेदसे इसमें भी भेद बन गया, तो कारण भी अभी जुदे जुदे कहलाने लगे। इसलिए ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनोंका एक साथ कहना युक्त बन गया।

(४९) **ज्ञानावरण व दर्शनावरणके आस्रवके कुछ अन्य विशेष कारणोंका प्रतिपादन**—जो ज्ञानावरण दर्शनावरणके आश्रव कहा है सो वह संक्षिप्त है। विशेषतामें कुछ ऐसा समझिये कि आचार्य व उपाध्यायके प्रतिकूल चलना यह ज्ञानावरणके आश्रवका कारण है, और भी ज्ञानावरण आश्रवके कारण निरखिये। अकालमें अध्ययन करना, जैसे जब सूर्य चंद्र ग्रहण हों, सबमें खलबली मच रही है और ऐसे कालमें अध्ययन करे तो वह अकाल अध्ययन है अथवा जैसे अपने संघके नायक प्रमुख जा रहे हैं बाहर, अथवा कोई बड़े तेजस्वी मुनिराज पधार रहे हैं तो उस समय अध्ययन न करना चाहिए वह उनके प्रति विनयादिका समय है। यदि कोई उस समय अध्ययन करता है तो वह ज्ञानावरणके आश्रवका कारण है। श्रद्धा न रखते हुए अध्ययन करना, श्रद्धा न रहना यह भी ज्ञानावरणके आश्रवका कारण है। अभ्यास करनेमें आलस्य रखना, कुछ शिक्षा किसीसे ले, पढ़े मगर अभ्यास करनेमें आलस्य किया तो उससे ज्ञानावरण कर्मका आश्रव होता है। अनादरसे अर्थ सुनना यह ज्ञानावरणके आश्रवका कारण है। समवशरणमें दिव्यध्वनि तो खिर रही है और उस समयमें कोई मुनि खुद उपदेश

करने लगे, व्याख्या करने लगे तो उसकी इस क्रियासे ज्ञानावरण कर्मका आश्रव होता है। जो बहुत ज्ञानी जीव हैं वे अपने ज्ञानका गर्व करने लगे तो उनके ज्ञानावरण कर्मका आश्रव होता है। मिथ्या उपदेश देना, बहुश्रुत विद्वान्का अपमान करना, अपने पक्षका कठिन आग्रह रखना, सूत्रविरुद्ध चलना, असिद्धसे ज्ञानकी प्राप्ति सोचना, शास्त्र बेचना, हिंसा आदिक करना ये सब ज्ञानावरण कर्मके आश्रवके कारण हैं। दर्शनावरणके आश्रवके कारणकी बात देखिये--दर्शनमें मात्सर्य होना, दर्शनमें अन्तराय डालना, किसीकी आँख फोड़ना, इन्द्रियके विपरीत प्रवृत्ति करना, दृष्टिका गर्व करते रहना, दीर्घकाल तक सोते रहना, दिनमें सोना, आलस्य रखना, नास्तिक बनना, सम्यग्दृष्टिमें दूषण लगाना, खोटे तीर्थकी प्रशंसा करना, हिंसा करना और मुनि जनोंके प्रति ग्लानिभाव आदिक करना, ये दर्शनावरणके आश्रवके कारण हैं।

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥६-११॥

(५०) दुःख शोक तापकी असातावेदनीयास्रवकारणता—स्वयं दुःख करना, शोक करना, ताप करना, आक्रन्दन, वध और परिदेवन तथा दूसरोंको दुःख कराना, शोक कराना, संताप कराना, रोना, वध करना, ये सब असातावेदनीय कर्मके आश्रवके कारण हैं। जब कोई विरोधी पदार्थ मिल जाय या इष्टका वियोग हो जाय या अनिष्टका संयोग हो जाय अथवा कठोर वचन आदिकका प्रयोग बने तो बाह्य कारणोंकी अपेक्षा तथा अन्तरंगमें असाता वेदनीय कर्मका उदय होनेसे जो जीवोंमें पीड़ा पहुंचती है उस पीड़ाके परिणामको दुःख कहते हैं। दुःखका सम्बंध आर्त ध्यानसे विशेष है। सो इष्ट वियोग होनेपर, अनिष्टसंयोग होनेपर, शरीर वेदना होनेपर, दूसरोंके निष्ठुर कठोर वचन सुननेपर असाता वेदनीयके उदयसे जो क्लेश होता है वह दुःख है। सो स्वयं दुःख करना, दूसरेको दुःखी कराना या स्वपर दोनों ही दुःख करना ये सब असातावेदनीयका आस्रव कराते हैं, शोक—जैसे जो पुरुष उपकारक है, बंधु है, बड़ा ध्यान रखने वाला है उसका वियोग हो जानेपर बार बार उसका विचार आनेके कारण जो चिन्ता होती है, खेद होता है, विह्वलता होती है वह सब शोक कहलाता है। शोक होने में बाह्य कारण तो बंधुवियोग आदिक है और अन्तरंग कारण मोहनीय कर्मका जो शोक-प्रकृति नामक भेद है उसका उदय है, ताप—निन्दा करने वाले, अपमान करने वाले कठोर वचन सुननेपर कलुषित हृदयके कारण जो भीतरमें तीव्र जलन होता है उसे ताप कहते हैं। ताप परिणाममें भीतर ही भीतर विकलता जगती है। भीतर ही भीतर अत्यन्त शोक रहता है। मानो हृदय जलता सा रहता है तो यह परिणाम ताप कहलाता है। सो खुद ताप करना, दूसरेका कराना और स्वपर दोनों ही करना, ये असातावेदनीयके आस्रवके कारण हैं।

(५१) **आक्रन्दन बध परिदेवनकी असद्वेद्यास्रवकारणता**—आक्रन्दन–बड़े संताप दुःख शोक आदिकके कारण आँसू गिरने लगें, अंगवियोग होने लगें, माथा धुनने लगे, छाती कूटने लगे, ऐसी क्रियावोंपूर्वक जो वृत्ति है उसे आक्रन्दन कहते हैं। जैसे किसी इष्ट पति पुत्रादिक का वियोग होनेपर रोना, आँसू गिराना, माथा फोड़ना, कुछ सूझना भी नहीं, विह्वल होकर रोना यह सब आक्रन्दन कहलाता है, सो ऐसा आक्रन्दन खुद करे, दूसरेसे कराये या दोनों करने लगें, उससे असाता वेदनीयका आश्रव होता है। बध–आयु, इन्द्रिय बल और प्राण आदिकका विघात करना बध कहलाता है। सो परिदेवन–अत्यन्त संक्लेशके कारण ऐसा रोना पीटना-जिस को सुनकर अपनेको या दूसरेको दया आ जाय सो परिदेवन है। ऐसा रोना पीटना खुद करे, दूसरेको कराये या दोनो करने लगे उससे असाता वेदनीयका आश्रव होता है।

(५२) **दुःखकी विशेषतावोंसे असद्वेद्यास्रवकी विशेषतायें**—यहाँ एक शंकाकार कहता है कि दुःख शोक आदिक जितने भी यहाँ शब्द बताये गए हैं वे सब दुःख जातिके ही तो हैं याने सब दुःख रूप हैं। जब सर्व दुःख रूप हैं तो केवल एक दुःख ही शब्द कहते। उनको अलगसे कहनेकी क्या आवश्यकता थी ? वे सब दुःखमें ही आ जाते हैं। शोक, ताप ये सब दुःखके ही भेद हैं। इस कारण केवल दुःख शब्द ही कहना चाहिये था, अन्य शब्द न कहना चाहिये था। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यद्यपि ये सब दुःख ही दुःख हैं मगर उन दुःखों में भी तो विशेषतायें होती हैं। तो कुछ विशेषतावोंके सम्बंधसे उनकी दुःख जाति होनेपर भी उनको बताना पड़ा है। जैसे कोई गाय इतना ही कहे और गायसे कुछ अधिक प्रयोजन न बने, जिसने उसका कुछ विशेष रूप नहीं जाना तो उसको समझानेके लिए यह मुण्डीगाय, सफेदगाय, काली गाय ऐसी बहुत सी बातें कहनी होती हैं तो ऐसे ही दुःखके कारणभूत असंख्यात प्रकारके आश्रव होते हैं और उन असंख्यात प्रकारके आश्रवोंके कारण भी असंख्यात प्रकारके होते हैं। यों दुःखके विशेष तो बहुत हो गए। उन्हें कोई न जाने तो कुछ दुःख जातिके विशेषोंको बताकर उनका विवेक कराया जाता है और इसीलिए शोकादिक शब्दोंका यहाँ ग्रहण किया गया है। दूसरी बात यह भी है कि दुःख शोकादिकमें परस्पर भेद भी पाया जाता है। जैसे घड़ा सकोरा आदिक मिट्टीसे ही बने हुए हैं, उसकी दृष्टिसे देखें तो सब मिट्टीरूप हैं, उनमें भिन्नपना नहीं है मगर उनका नियत आकार देखें, उनका उपयोग देखें तो उन पर्यायोंकी दृष्टिसे उन मिट्टीके बर्तनोंमें परस्पर भिन्नता है। ऐसे ही जो दुःख, शोक, ताप आदिक इस सूत्रमें कहे गए हैं सो एक अप्रीति सान्यकी दृष्टिसे देखें तो चूंकि इन सभीमें प्रीतिका अभाव है, हर्षका अभाव है, इस दृष्टि से तो सब दुःखके परिणामसे अभिन्न हैं, किन्तु अर्थकी दृष्टिसे, उनके स्वरूपकी दृष्टिसे उन दुःखोंमें विशेषता है तो उन पर्यायोंकी दृष्टिसे इन सबमें परस्पर भिन्नता पायी जाती है।

(५३) दुःख शोक आदिका निरुक्त्यर्थ—अब इस सूत्रमें जो दुःख आदिक पद दिए गए हैं उनकी निरुक्तिमें अर्थ देखिये यहाँ सभी शब्द कर्तृसाधनमें कर्मसाधनमें और भाव-साधनमें बनते हैं। जैसे आत्माको दुःखित करना सो दुःख है। आत्मा जिसके द्वारा दुःखी होता है सो दुःख है या दुःखन मात्र दुःख है। इन तीन साधनोंमें एक आशयके थोड़े भेद होते हैं। तो भी वहाँ ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं, केवल कर्तृसाधनका ही एकान्त किया जाय तो भी नहीं बनता। अन्य साधनोंका एकान्त भी नहीं बनता। जब स्वातंत्र्यकी विवक्षा है। पर्याय और पर्यायीका जब अभेद दृष्टिमें है तो तपे हुए लोहेके पिण्डकी तरह तत्परिणाम मय होनेसे आत्मा ही दुःख रूप होता है इसलिए तो कर्तृसाधन बनता है और जब पर्याय और पर्यायीके भेदकी विवक्षा हो तब यह अर्थ बनता है कि जिसके द्वारा या जिसमें आत्मा दुःखी हुआ हो उसे दुःख कहते हैं। यह करणसाधन बन गया सो यह भी अन्य साधनोंका निषेध होने पर नहीं बनेगा। और जब केवल वस्तुस्वरूप मात्रका कथन हो तो दुःखन होना दुःख है, इस प्रकार भावसाधन बनता है यह भी अन्य साधनोंकी अपेक्षा रखता है। जैसे एक दीपक शब्दको लिया— जो प्रकाश करे सो दीपक, यह कर्तृसाधन हो गया। प्रकाश किया जाता है जिसके द्वारा वह दीपक है, यह करण साधन हुआ और प्रकाशनमात्रको दीपक कहते हैं, यह भावसाधन हो गया। अर्थ एक ही है। पर आशयसे तीन साधन बन गए। तो जैसे इसमें कोई यह एकान्त कहे कि हम तो सर्वथा कर्तृसाधन रूप ही मानते हैं, मायने जो प्रकाश करे सो दीपक, तो उनमें जब करणपना न रहे कि किसके द्वारा प्रकाश करना और क्रियाकी मुख्यता न रहना कि प्रकाशन हो रहा है तो कर्तृसाधन भी टिक नहीं सकता ऐसे ही कोई करण साधनका ही एकान्त करे कि जिसके द्वारा प्रकाश किया जाता है वह दीपक है और कुछ है नहीं कर्ता वगैरह तो करनहार कोई नहीं है तो करणपना कैसे बन गया? तो इसमें किसीका भी एकान्त करनेपर यह साधन नहीं बनता है। हाँ जब जिस साधनका प्रयोग होता है वह मुख्य होता है, पर शेष दोनों बातें उसके हृदयमें ज्ञात रहती है, क्योंकि वस्तु केवल पर्यायमात्र नहीं है, वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, नित्यानित्यात्मक है।

(५४) पर्यायमात्र या द्रव्यमात्र वस्तु माननेपर दुःखशोकादि परिणामकी अनुपपत्ति—अगर पर्याय मात्र ही वस्तु माना जाय जो एक समयमें जानन बन रहा है वह उतना ही पूर्ण वस्तु है अन्वयीद्रव्य कोई नहीं है, ऐसा आत्माका अभाव माननेपर कोईसा भी साधन नहीं बन सकता। करणसाधन तो यों न बनेगा कि कर्ता नहीं माना गया। कर्तृसाधन यों नहीं बनेगा कि कारण नहीं माना गया। जब तक स्वातंत्र्य शक्ति वाला अर्थ न माना जाय तब तक शेष कारक कोई भी प्रयुक्त नहीं हो सकते। जब कोई एक स्वतंत्र वस्तु ही नहीं तो

करण, सम्प्रदान किसके लिए लगाये जा रहे हैं। कोई यदि कर्तृसाधनका ही एकान्त करे कि बस यही है, करने वाला है, इतना ही भर माने तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि करण आदिक न माननेपर यह सब कुछ नहीं बन सकता। देखिये अहेतुक क्षायिकमें विज्ञान आदिक जब एक साथ उत्पन्न होते हैं, जैसा कि क्षणिकवादियोंके मतमें माना गया है तो वे एक दूसरे के सहकारी कैसे बन सकते हैं? अतीत और अनागत तो असत् ही है वर्तमानमें, तो उनका वर्तमानके प्रति सहयोग कैसे हो सकता? अर्थात् वस्तुको नित्यानित्यात्मक माने, स्वतंत्र सत्ता वाला माने, त्रैकालिक माने परिणामी माने नहीं तो ये सब परिणमन कैसे हो सकते हैं? यदि एक क्षणिक मात्र ही माना, विज्ञान मात्र ही माना कि बस यही दुःख है जो एक समयमें जानन होता है, सो वहां दुःख शोकादिक कैसे हो सकते हैं? शोक तो तब होता है जब पहले किसी दुःखका अनुभव किया हो फिर उसका स्मरण आये। पर जहाँ समयमात्र ही आत्मा है, क्षणिक है वहाँ स्मरण कैसे हो सकता? एक समयमें आत्मा उत्पन्न हुआ, उसीमें नष्ट हो गया तो वहाँ शोकादिक नहीं बन सकते और ये शोकादिक सब देखे ही जाते हैं। अर्थात् पर्यायवान के बिना पर्यायें नहीं बन सकतीं। जानना आदिक बातें तो मानता रहे और उनके आधारभूत कोई स्थायी आत्मा न माने तो पर्याय कैसे टिक सकता है? इसलिए वस्तु केवल पर्यायमात्र नहीं है। पर्यायमात्र माननेपर दुःख शोक आदिक ये कुछ भी नहीं हो सकते। यदि वस्तुको द्रव्यमात्र ही स्वीकार किया जाय कि वस्तु पूरे द्रव्य ही है, उसमें क्रिया नहीं, गुण नहीं सर्वथा निर्गुण है, निष्क्रिय है तो ऐसा कोई द्रव्य माननेपर, ऐसा आत्मा माननेपर कि जिसमें परिणमन नहीं होता, जिसमें ज्ञान भी नहीं है ऐसा कल्पित आत्मा दुःख सुख आदिक परिणतियोंका कर्ता कैसे हो सकता है और जब ज्ञानादिक गुणरहित आत्माको माना तो वह अचेतन कहलाया। कोई भी अचेतन जैसे प्रधान अचेतन है तो वह दुःख आदिक पर्यायोंका कर्ता नहीं हो सकता। अचेतनमें भी अगर दुःख शोक आदिक होने लगे तो फिर चेतन और अचेतनका भेद किस बातसे किया जा सकेगा?

(५५) **स्वपरोभयस्य दुःखादिका असद्वेद्यास्रवहेतुता**—इस सूत्रमें जो दुःख आदिक कहे गए हैं ये अपनेमें होते हैं, दूसरेमें होते हैं, दोनोंमें होते हैं और ये सभी असातावेदनीयके आश्रवके कारण हैं। जब क्रोधादिकके आवेशमें रहने वाला जीव अपनेमें दुःख आदिक उत्पन्न करता है तब वह आत्मस्थ दुःख कहलाता है और जब कोई समर्थ व्यक्ति दूसरेमें दुःख आदिक उत्पन्न करता है तो वह परस्थ दुःख कहलाता है, और जब किसी घटनामें दोनों ही दुःखी होते हैं तो वह उभयस्थ दुःख कहलाता है। जैसे किसी इष्टके गुझरनेपर कई दिनके बाद भी कोई रिस्तेदार बैठने आता है तो वह रिस्तेदार खुद भी रोने जैसी मुद्रा बनाता है और घर

वालोंको भी रोना पड़ता है, उस समय दोनों ही रोने लगे एक विषयको लेकर। यह उभयस्थ दुःख कहलाता है या जैसे कोई साहूकार कर्जदारसे कर्ज वसूल करने गया तो वहाँ दोनों ही लड़ते बोलते या कहीं जा रहे हैं या भूख प्यास आदिकके दोनों दुःख सह रहे हैं तो ये उभयस्थ दुःख कहलाते हैं। तो चाहे दुःख आदिक स्वमें हों चाहे परमें हों, चाहे दोनोंमें हों, सबसे असाता वेदनीयका आस्रव होता है।

(५६) दुःख शोकादि प्रकरणमें स्फुट ज्ञातव्य—इस सूत्रमें तीन पद हैं—पूर्व पदमें तो आश्रवोंके कारणोंके नाम दिए हैं, दूसरे पदमें स्व पर और दोनोंमें रहने वाले दुःख आदि का संकेत किया है। तीसरे पदमें असातावेदनीयका नाम दिया है कि ये सब असाता वेदनीय के आश्रवके कारण हैं। यहाँ वेद्यका अर्थ है अनुभवना, वेदना, चेतना है। यद्यपि वेद्य या वेद्य शब्द चार प्रकारके अर्थ वाली धातुसे बनते हैं, विद्ज्ञाने, विदलृट लाभे, विन्तिविचारे और विद्य सद्भावे, पर यहाँ एक चेतन ज्ञान अनुभवन अर्थको लिए ही धातु लेना है। इस सूत्रमें सर्वप्रथम दुःख शब्द दिया है तो यह दुःख प्रधान है और सभीमें दुःख है, उसके बाद जो शोकादिक कहे गए हैं वे सब दुःखके ही विशेष हैं, सो शोकादिकका ग्रहण करना उपलक्षण रूप है और इस दृष्टिसे अनेक शब्द और भी ग्रहण किए जा सकते हैं जो कि असातावेदनीयके आश्रवके कारण हैं।

(५७) असातावेदनीयके अन्य आस्रवहेतुवोंका ग्रहण—जैसे अशुभोपयोग करना, किसी व्यक्तिपर कुछ अशुभ आपत्ति लादना असातावेदनीयका आश्रव करना है। दूसरेकी निन्दा करना, चुगली करना यह सब असातावेदनीयका आश्रव है। एक दूसरेसे संताप उत्पन्न कराना, अंगोपांगका छेदन करना जैसे कि बैलोंके नाक आदिक छेदे जाते हैं ये सब असातावेदनीयके आश्रव करने वाले हैं। भेद करना, ताड़ना, किसीको त्रास देना, किसीको डांटना ये सब असातावेदनीयके आश्रव करने वाले हैं। छीलना, पीटना, बाँधना, किसीको रोकना, मर्दन करना ये सब असातावेदनीयके आश्रव करने वाले हैं। किसीको दबाया, किसीपर बोझा लादा, लज्जित किया ये सब असातावेदनीयके आश्रव करते हैं। दूसरेकी निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, संक्लेश उत्पन्न करना, जीवन यों ही गंवा देना, ये सब असातावेदनीयके आश्रव के कारण हैं। निर्दय होना, बहुत बड़ा आरम्भका काम लगा लेना बहुत बड़े परिग्रहका लगाव है, किसीका विश्वासघात करना, किसीको आश्वासन देना, विश्वास देना, पूर्ण रूपसे वचन देना, फिर उसे धोखा देना, ये सब असातावेदनीयका आश्रव करते हैं। मायाचारी पापके कामोंसे अपनी आजीविका बनाना, बिना प्रयोजन ही कुछ पाप करते रहना, वस्तुवोंमें विष मिला देना, हिंसाके साधनोंको उत्पन्न करना, जैसे बाण बनाना, जाल बनाना, पिंजरा बनाना

ये सब असातावेदनीयके आश्रवको किया करते हैं। किसीको जबरदस्ती शस्त्र देना, तुम यह बन्दूक रखो ही, तुम यह तलवार सिरमें लटकाओ ही आदिक अनेक ढंगोंसे किसीके परिणाम बिगाड़ना ये सब असातावेदनीय कर्मके आश्रवके कारण हैं।

(५८) **दुःख आदि देनेके आशयमें असद्वेद्यास्रवहेतुता**—अब यहाँ कोई शंका करता है कि यह बताया गया कि दुःखके कारणोंसे असातावेदनीयका आश्रव होता है तब आचार्य महाराज या अरहंतदेवने ऐसा उपदेश क्यों दिया जिससे दुःख हो, जैसे कि नग्न रहना, केश-लोंच करना, अनशन आदिक करना, तप आदिक करना, इनसे तो शरीरको कष्ट पहुंचता है, फिर तीर्थंकर महाराजको तो इन बातोंका उपदेश न करना चाहिए था। तो इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि क्लेशभावपूर्वक यदि यह बात कही जाती है तब तो शंका ठीक थी, मगर संसारके दुःखोंसे छुटकारा दिलानेके लिए उसके उपायभूत रत्नत्रयकी साधनोंमें चलना आवश्यक है और ऐसे जीवोंको पूर्वसंस्कारवश खोटे भावोंके आनेके प्रसंग आते हैं, तो उन अशुभ उपयोगोंसे बचनेके लिए इन नग्न आदिक तपोंका विधान किया गया है। तो यह तो एक दयावश किया गया है। उनको करुणा उपजी कि ये संसारी जीव संसारमें दुःख पा रहे हैं। इन दुःखोंसे सदाके लिए छुटकारा हो तो जैसे डाक्टर घोड़ेका आपरेशन करे, कोई चिकित्सा करे तो देखनेमें यह लगता कि यह बड़े दुःखका काम है, पर उसके क्रोधादिक भाव न होनेसे डाक्टरको उस पापका बंध तो नहीं होता। तो ऐसे ही अनादिकालके सांसारिक जन्म मरण वेदनाको नष्ट करनेकी इच्छासे तप आदिक उपायोंमें प्रवृत्ति करने वाले यतिके कार्यमें चाहे लोगोंको दुःख दिखे मगर वे कार्य पापके बंधक नहीं हैं, क्योंकि वे क्रोधादिकके कारण नहीं किए जाते। फिर एक बात यह है कि जो संसारी जीव दुःखसे दबे हुए हैं उनके मनको जहाँ आराम मिले वही तो सुख कहलाता है। तो उन साधकजनोंका अनशन आदिक करनेमें मनको सुख मिलता है, वह स्वेच्छासे करते हैं इस कारण भी कोई दुःखका प्रसंग नहीं है, अब यहाँ तक असातावेदनीयके आश्रवके कारण कहकर सातावेदनीयके आश्रवके कारण बतलाते हैं।

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥६-११॥

(५९) **भूतानुकम्पा और व्रत्यानुकम्पाकी सद्वेद्यास्रवहेतुता**—भूतानुकम्पा, व्रत्यनुम्पा दान, सरागसंयम आदिकका योग क्षमा, पवित्रता ये सब सातावेदनीयके आस्रवके कारण होते हैं। इसमें १—प्रथम कारण बताया है भूतानुकम्पा। भूतोंकी अनुकम्पा—अनुकम्पा दया को कहते हैं, किसी दुःखीको देखकर उसके अनुसार दिल कंप जाना सो अनुकम्पा है। भूत कहते हैं प्राणियोंको। भूत शब्द बना है भू धातुसे, जिसमें अर्थ यह भरा है कि आयु नाम कर्म के उदयसे जो उन योनियोंमें होते हैं। जन्म लेते हैं वे सब प्राणीभूत कहते हैं। सर्व जीवों

की दया करना सो भूतानुम्पा है। इस जीवदयाके परिणामसे सातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। जिसके उदयकालमें यह जीव भी साता पायगा। २–दूसरा है व्रत्यनुकम्पा—व्रती जनों पर अनुकम्पा होना सो व्रत्यनुकम्पा है। व्रत हैं ५—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन व्रतोंका जो सम्बन्ध बनाता है, इन व्रतोंका जो पालन करता है वह व्रती कहलाता है चाहे गृहस्थ हो और चाहे गृहस्थोंको छोड़कर निर्ग्रन्थ दिगम्बर हों, उन सब व्रतियोंपर अनुकम्पा होना व्रत्यनुकम्पा है। यहाँ एक शंका यह हो सकती है कि जब पहले भूतानुकम्पा कही जिसमें सर्व जीवोंकी दया आ ही गई तो व्रती अनुकम्पाका शब्द अलगसे करना व्यर्थ है। तो उत्तर इसका यह है कि भले ही सामान्यका निर्देश करनेसे सर्व विशेष भी आ गए, सब जीवोंमें व्रती भी आ गए फिर भी सर्व जीवोंकी अपेक्षासे व्रतियोंकी प्रधानता बतलाने के लिए व्रत्यनुकम्पा शब्द अलगसे कहा गया है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि जीवोंमें जो अनुकम्पाकी जाती है उसकी अपेक्षा व्रतियोमें अनुकम्पा करना प्रधानभूत है अर्थात् विशिष्ट है, श्रेष्ठ है, तो ऐसा प्रधान बतलानेके लिए व्रत्यानुपकम्पा अलगसे कहा है। अनुकम्पाका अर्थ है अनुग्रहसे भीगे हुए चित्तमें दूसरेकी पीड़ाका इस तरह अनुभव करना कि मानो मुझ ही में हो रही है पीड़ा इस तरह अपने हृदयमें पीड़ा करनेपर जो अनुकम्पन होता है, दयालुचित्त होता है, उस दुःखकी वेदना होने लगती है वह कहलाती है अनुकम्पा। अनुकम्पा शब्द एक है और वह दोनोमें लगना है, भूतोंमें अनुकम्पा और व्रती जनोंमें अनुकम्पा। सो पहले भूत और व्रती इन दो शब्दोंका द्वंद्व समास किया गया है। 'भूतानि च व्रतिनः च इति भूत व्रतिनः' फिर इसमें तत्पुरुष समास किया गया। 'भूतव्रतिषु अनुकम्पा भूतव्रत्यानुकम्पा'। प्राणी और वृतियोंमें अनुकम्पा होना।

(६०) **दान व सरागसंयमकी सद्वेद्यास्रवहेतुता**—(३) तीसरा कारण बतला रहे हैं दान। दूसरेपर अनुग्रह बुद्धि होनेसे अपने वस्तुका त्याग करना दान कहलाता है। जैसे किसी प्राणीपर दया आयी अथवा किसी व्रतीपर भक्ति उमड़ी तो उनकी सेवाके लिए अपने धनका परित्याग करना यह दान कहलाता है। (४) चौथा कारण बतला रहे हैं सरागसंयम। सरागका अर्थ है रागसहित। पहले उपार्जित किए गए कर्मके उदयसे ऐसा संस्कार बना है, अभिप्राय बना है कि कषायका निवारण नहीं हो सकता। फिर भी जो कषाय निवारणके लिए तैयार है ऐसा पुरुष सराग कहलाता है। यद्यपि सराग शब्दका सीधा अर्थ है रागसहित, किन्तु इसके साथ संयम लगा होनेसे यह अर्थ ध्वनित हुआ कि यद्यपि रागका निवारण नहीं किया जा सकता फिर भी रागनिवारणके लिए जिसका लक्ष्य बना है, राग दूर करना चाहता है उसे कहते हैं सराग और संयमका अर्थ है प्राणियोंकी रक्षा करना या इन्द्रिय विषयोंमें प्रवृत्ति न होने देना

यह है संयम। भले प्रकार आत्मामें नियंत्रण करनेको संयम कहते हैं। सो सराग पुरुषके संयम को सराग संयम कहते हैं अथवा राग सहित संयमको सराग संयम कहते हैं।

(६१) आदि शब्दसे गृहीत अकामनिर्जरा संयमासंयम व बालतपकी सद्वेद्यास्रव-हेतुता—सरागसंयमके बाद आदि शब्द दिया है अर्थात् आदि लगाकर अन्य भी ऐसी ही ब त सातावेदनीयके आश्रवका कारण होती है यह जानना। तो उस आदि शब्दसे क्या-क्या ग्रहण करना, उनमेंसे कुछका नाम बतलाते हैं कि जैसे (५) अकामनिर्जरा—जीव स्वयं नहीं चाह रहा कि मैं ऐसा तप करूँ या ऐसा उपसर्ग अपनेपर लूं या दुःखका परिणाम बनाऊँ, फिर भी किसी परतन्त्रताके कारण उपभोगका निरोध होना, ऐसी स्थिति आ जाय तो शान्तिसे सह लेना अर्थात् कोई उपद्रव आ जाय, भूखा रहना पड़े, गर्मी सहनी पड़े, कहीं पहुंच रहे, कुछ चाहते भी नहीं हैं ऐसा क्लेश, पर अगर आ गया है तो उसे शान्तिसे सह लेना यह कहलाती है अकामनिर्जरा। (६) एक है संयमासंयम। कुछ निवृत्ति होना, सर्वथा पापसे तो निवृत्ति नहीं है, पर एक देश पापसे हट जाना संयमासंयम कहलाता है। ये सब सातावेदनीयके आश्रव के कारण होते हैं। (७) एक है बालतप—मिथ्यादृष्टि जीवोंके जो तप है, जैसे अग्निप्रवेश, पंचाग्नि तप, यह बालतप कहलाता है। ये भी सातावेदनीयके आश्रवके कारण हैं, मगर हैं ये निकृष्ट कारणभूत। विशिष्ट सातावेदनीयका आश्रव नहीं है साधारणरूपसे, क्योंकि उनके अज्ञान छाया है, जानकर समझकर विवेकपूर्वक कोई प्रवृत्ति नहीं है, लेकिन धर्म नामकी श्रद्धा है, मैं धर्मके लिए कर रहा हूं, ऐसी स्थितिमें उन मिथ्यादृष्टि जनोंका जो तपश्चरण आदिक है वह बालतप कहलाता है।

(६२) योग क्षान्ति व शौचभावकी सद्वेद्यास्रवहेतुता— (८) योग—निर्दोष क्रिया करनेका नाम योग है। अर्थात् पूर्व उपयोगसे जुट जाना, दूषणसे हट जाना। इसके अति-रिक्त (९) क्षमाभाव भी सातावेदनीयके आश्रवका कारण है। शुभ परिणामसे क्रोधादिक हटा देना क्षमा कहलाता है। इस क्षमासे सातावेदनीयका आश्रव होता जिसके कारण आगे इन कर्मोंका उदय होने पर इस जीवको साता मिलेगी। (१०) एक कारण है शौच, पवि-त्रता—लोभके प्रकारोंसे अलग हो जाना शौच है, जिस लोभके मुख्य तीन प्रकार हैं—अपने द्रव्यका त्याग न कर सकना, दूसरेके द्रव्यका हरण कर लेना, और किसी की धरोहरको हड़प जाना और भी अनेक प्रकार हैं। पर एक व्यवहारमें लोभीजनोंकी जैसी वृत्ति होती है, उसके अनुसार कह रहे हैं। एक तो ऐसे लोभी होते जो स्वद्रव्यका त्याग नहीं कर सकते, धन खर्च नहीं कर सकते, एक ऐसे लोभी होते हैं कि जो दूसरेके द्रव्यका भी हरण करना चाहते हैं व करते हैं, और एक ऐसे लोभी कि जिनके पास कोई अपनी चीज रख

जाय तो उसको हड़पना चाहते और हड़प लेते हैं। इस प्रकार लोभका परित्याग करना शौच भाव है। ऐसी वृत्ति अर्थात् ऐसे ऐसे अन्य भाव भी साता वेदनीयके आश्रवके कारण हैं।

(६३) सूत्रोक्त सब परिणामोंका समास करके एक पद न करनेका कारण एवंविध अन्य भावोंका संग्रहण—इस सूत्रमें बात दो ही तो कही गई हैं कि ऐसी ऐसी बातें साता-वेदनीय आस्रवके कारण हैं। तो केवल दो ही पद होने चाहिएँ थे सो उस एक पदको जिसमें सारी घटनायें बतायी हैं आस्रवके कारणभूत उनके लिए तीन पद किए गए हैं और फिर इति शब्द भी लगाया है। उनका समास क्यों नहीं किया गया, समास कर देते तो सूत्रमें लघुता आ जाती। यहाँ एक ऐसी शङ्का होती है। उसका उत्तर यह है कि अलग अलग कुछ पद यों लगाये कि ऐसे अन्य भाव भी संग्रहीत कर लिए जायें मायने इतने भाव तो सूत्र में बताये हैं पर ऐसे ही अन्य भाव हैं जो सातावेदनीयके आस्रवके कारण होते हैं, और इसी प्रकार यह भी प्रश्न हो सकता कि इति शब्द लिखना भी व्यर्थ है। तो एक तो समास न करके अलग-अलग लिखा और एक इति शब्द लिखा तो यह कुछ अनर्थक सा होकर सार्थकताको घोषित करता है। अर्थात् अन्यका भी संग्रह करना। वह अन्य क्या क्या है जिसका यहां संग्रह किया जाना चाहिए। तो सुनो—अरहंत प्रभुकी पूजा, यह परिणाम साता वेद-नीयके आस्रवका कारण है। वयोवृद्ध तपस्वीजनोंकी सेवा यह परिणाम साता वेदनीयके आस्रवका कारण है। छल कपट न होना, सरलता बनी रहना, किसीको लोंधा पट्टीकी बात न कहना ऐसी स्वच्छता साता वेदनीयके आस्रवका कारणभूत है। ऐसे ही विनयसम्पन्नता पर जीवोंका आदर करना सबके लिए विनयशील रहना यह भी साता वेदनीयके आस्रवका का कारण है।

(६४) नित्यत्व या अनित्यत्वके एकान्तमें परिणामोंकी अनुपपत्ति—यहाँ एक दार्श-निक बात समझना कि जीवको जो लोग सर्वथा नित्य मानते हैं, उनके ये बातें घटित नहीं हो सकती याने दया करना, दान करना, संयम पालना आदिक बातें जीवको सर्वथा नित्य मानने वालेमें घटित नहीं हो सकती और आत्मासे सर्वथा भिन्न, क्षणिक माननेमें भी ये सब घटित नहीं हो सकते। **जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य है पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। ऐसा जीवका स्व-भाव है।** बना रहता है और परिणमता रहता है। तो ऐसे जीवके अनुकंपा आदिक परिणाम विशेष होते हैं। पर केवल नित्य हो तो परिणति ही नहीं, दया आदिक कहाँसे हो सकें? एक अनित्य हो। एक समयको ही आत्मा है फिर नहीं है तो वहाँ करुणा, दान आदिक कैसे सम्भव हो सकते? सर्वथा नित्य मानने वालोंके यहाँ तो विकार माना ही नहीं गया, उनमें कुछ बदल परिणमन जब नहीं माना गया तो दया आदिक कैसे हो सकते? और यदि

दया आदिक मान लिये जायें तो वे सर्वथा नित्य कहाँ रहे ? इसी तरह जो क्षणिक एकान्त का सिद्धान्त मानते हैं तो उनका ज्ञान तो क्षणिक रहा और दया आदिक तब ही बनते जब पहली और उत्तर पर्यायका घटनाका ग्रहण किया जाय। सो यह बात क्षणिकमें कैसे बनेगी सो अनुकम्पा भी नहीं बन सकती। इससे जोव नित्यानित्यात्मक है तब ही तो वहाँ अनुकम्पा आदिकके परिणाम बनते हैं। इस प्रकार सातावेदनीयके आश्रवके कारण बताये। अब इसके अनन्तर मोहनीयकर्मका नंबर है जैसा कि सूत्रमें ही क्रम दिया जायगा। सो मोहनीयके दो भेद हैं—१– दर्शनमोहनीय और २– चारित्रमोहनीय जो आत्माके सम्यक्त्वगुणको प्रकट न होने दे वह है दर्शनमोहनीय और जो आत्मामें चारित्रगुणको न प्रकट कर सके सो है चारित्रमोहनीय। तो उसमें दर्शनमोहनीयके आश्रवके कारण बताये जा रहे हैं।

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥६—१३॥

(६५) प्रभु श्रुत मुनि धर्म व सुरके अवर्णवादमें दर्शनमोहके आस्रवकी हेतुता—केवली भगवानका अवर्णवाद, श्रुत याने शास्त्र आगमका अवर्णवाद, संघ अर्थात् मुनिजनोंका अवर्णवाद, धर्मका अवर्णवाद, देवका अवर्णवाद, ये दर्शनमोहनीयके आश्रवके कारण होते हैं। अवर्णवादका अर्थ है कि जैसा स्वरूप है वैसा न वाद अर्थात् न कहना उलटा कहना सो यह है अवर्णवाद। केवली भगवान किसका नाम है ? जो इन्द्रियके क्रम और व्यवधानका उल्लंघन कर ज्ञानसे सहित है वह केवली प्रभु हैं याने चक्षु आदिक हुए करण और कुछ काल जाने, कुछ काल न जाने या बाहरी भींत आदिकसे आवरण हटना यह कहलाता है व्यवधान तो इन्द्रियसे जाननेका क्रम भी नहीं है जहाँ और किसी चीजकी आड़ भी नहीं है जहाँ, ऐसा जो स्वाभाविक ज्ञान है जो ज्ञानावरणके पूर्ण नष्ट होने पर प्रकट होता है। ऐसा जो स्वाभाविक ज्ञान है वह जिनके पाया जाय उन्हें कहते हैं अरहंत भगवान। श्रुत किसे कहते हैं ? उन अरहंत भगवन्तोंके द्वारा उपदेश किए गए जो वचन हैं वे श्रुत कहलाते हैं। राग द्वेष मोहसे जो दूर हो गए उनके द्वारा कहे हुए वचन ही आगम हैं। जो रागद्वेष मोहसे दूर नहीं हैं उनके वचन कैसे पूर्ण सत्य हो सकते ? मूलभूत कैसे हो सकते कि जिसके आधार पर सर्व जिनागमके वचनोंका स्पष्ट भाव लाया जा सकता। तो रागद्वेष मोहसे रहित प्रभुके द्वारा उपदिष्ट आगम श्रुत कहलाता है और उस श्रुतको धारण किसने किया ? उसे धारण किया है गणधरोंने। उसका अर्थ मनमें ठीक समझा है तो बुद्धि ऋद्धि रखने वाले गणधर देवों का वह श्रुत कहलाता है। संघ क्या कहलाता है ? सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रसे युक्त चारों प्रकारके मुनियोंका जो समुदाय है वह संघ कहलाता है। यहाँ एक जिज्ञासा हो सकती है कि तब फिर एक ही मुनि हो तो उसका नाम छूट गया, संघमें वह तो न आ

पाया, सो ऐसी शङ्का यों न करना कि एक भी मुनि हो वह भी संघ कहलाता है, क्योंकि अनेक व्रत गुणोंका संघ यहाँ पाया जाता है। धर्म क्या कहलाता है ? अहिंसाभाव जो जिनागममें कहा है वह धर्म कहलाता है और देव कहलाते हैं देवगतिके जीव इन सबका अवर्णवाद करना अर्थात् निन्दा करना ये दर्शन मोहनीय कर्मके आश्रवके कारण हैं जिससे कि आगे सम्यक्त्वमें बाधा आती रहेगी।

(६६) अज्ञानियों द्वारा केवली आदिके विषयमें किये जाने वाले अवर्णवादोंका चित्रण—अवर्णवादका भाव है। जो गुणवान पुरुष हैं, महान संत है उनमें अपनी बुद्धिकी मलिनताके कारण न भी कोई दोष हों उनमें तो भी उन दोषोंका कहना इसे अवर्णवाद कहते हैं। तो केवली आदिकके विषयमें अवर्णवाद करना दर्शनमोहनीयके आश्रवका कारण है। केवली भगवानका अवर्णवाद अज्ञानीजन किस प्रकार करते हैं ? ये केवली भोजन करके जिन्दा रहते हैं, हम लोगों जैसा पिण्डका आहार करके [illegible] जीवित रहा करते हैं, कम्बल आदिक धारण [illegible] हैं, तूमड़ीका पात्र रखते हैं, केवली प्रभुके भी ज्ञान और दर्शन क्रमसे होते हैं, आदिक अवर्ण अस्वरूप बोलना यह केवलीका अवर्णवाद है। आगमका अवर्णवाद क्या है ? यह बताना कि शास्त्रोंमें, आगममें भी मद्य मांसका भक्षण लिखा है, शराबका पीना बताया है। कोई पुरुष कामसे पीड़ित हो तो उसे प्रेमदान देना बताया है। रात्रिभोजन आदिकमें कुछ दोष नहीं है, इस प्रकार शास्त्रका नाम लेकर कहना यह श्रुतका अवर्णवाद है। संघका अवर्णवाद— ये मुनि श्रमण अपवित्र हैं, शूद्र हैं, स्नान न करनेसे ये मलिन शरीर वाले हैं, दिगम्बर हैं, निर्लज्ज हैं, ये इस लोकमें ही दुःखी हैं, परलोक भी इनका नष्ट है आदि रूपसे मुनि जनोंकी निन्दा करना, उन्हें अस्वरूप कहना यह संघका अवर्णवाद है। धर्मका अवर्णवाद—जिनेन्द्रभगवानने जो धर्म बताया है वह निर्गुण है, उसमें कुछ महत्व नहीं है, इस धर्मके धारण करने वाले मरकर असुर होते हैं आदिक रूपसे धर्मका अवर्णवाद करना यह दर्शनमोहनीयके आश्रवका कारण है। देवोंका अवर्णवाद— देवगतिके जीवोंके लिए बताना कि ये मद्य मांसका सेवन करते हैं, ये अहिल्या आदिकमें आसक्त हुए थे आदिक रूपसे देवोंका खोटा स्वरूप कहना यह देवोंका अवर्णवाद है। ऐसे ही ये सब अवर्णवाद दर्शनमोहनीयके आश्रवके कारण होते हैं। अब चारित्रमोहनीयके आश्रवके कारण क्या क्या हैं, यह बतलाते हैं—

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ ६-१४ ॥

(६७) चारित्रमोहके आस्रवके कारणोंका दिग्दर्शन—कषायके उदयसे तीव्र बुरे परिणाम होना चारित्रमोहनीयके आश्रवके कारण हैं। जो कषायकर्म पहले बांध रखे थे उनके द्रव्य, क्षेत्र आदिकका निमित्त पाकर उदय होता है वह फल दे लेता है, इसका नाम है उदय।

सो ऐसे कषायोंके तीव्र उदयसे जो संक्लेश परिणाम होते हैं उनसे ऐसे कर्मोंका आश्रव होता, बंध होता कि जिसके उदयमें आगे भी चारित्रहीन दुःखी रहता है। अब कुछ चारित्रमोहनीय के अलग-अलग विशेषोंके कारण बताते हैं, चारित्रमोहनीय दो रूपोंमें बँटा हुआ है—१-कषायमोहनीय और २-नोकषायमोहनीय। फिर नोकषायमोहनीय हास्य रति आदिक अनेक रूपों में बँटे हैं। तो पहले कषायमोहनीय आश्रवके कुछ कारण विशेष बतलाते हैं।

(६८) **कषायमोहनीय नामक चारित्रमोहनीयकर्मके आस्रवके कारणोंका संक्षिप्त प्रपञ्च**—जो तपस्वी जगतका उपकार करने वाले हैं, उत्तम शीलव्रतका पालन करते हैं उन तपस्वियोंकी निन्दा करना चारित्रमोहके आश्रवका हेतु है। धर्मका ध्वंस करना, कोई धार्मिक प्रोग्राम होते हों उनको बिगाड़ना अथवा अपना परिणाम ऐसा कायर और क्रूर करना कि जिससे आत्मधर्मका घात होता हो, ऐसे कार्योंसे कषाय मोहनीयका आश्रव होता है। धार्मिक कार्योंमें अन्तराय डालना, दूसरोंकी धर्मसाधनामें अंतराय डालना, सामूहिक धार्मिक कार्योंमें विघ्न करना, अपने आपमें धर्मपरिणाम होनेके प्रति प्रमाद रखना याने अपने धर्मका भी अंतराय करना, इसमें कषाय प्रवृत्तियोंका आश्रव होता है। कोई पुरुष शील गुणवान हो, देशसंयमी हो, महाव्रतका पालन करने वाला हो तो उसको ऐसे वचन बोलना, उसके प्रति ऐसा परिणाम बनाना कि वह अपने संयमसे च्युत हो जाय तो यह क्रिया कषाय प्रकृतियोंका आश्रव करती है। जो जीव मद्य मांस आदिकके त्यागी हैं उनको ऐसे वचन कहना, ऐसा ही वातावरण बनाना कि वे अपने संकल्पसे हट जायें, बिचक जायें, अपने नियममें ढील करने लगें, ऐसी कोशिश वाले परिणामोंसे कषाय प्रकृतियोंका आश्रव होता है। कोई पुरुष निर्दोष चारित्र वाला है तो भी उसमें दूषण लगाना, उनके दोषोंको प्रकट करना ये कषायप्रकृतियोंका आश्रव करते हैं। स्वयं ऐसे भेषोंको धारण करे, जो संक्लेशको उत्पन्न कराये तो यह क्रिया, ऐसे परिणाम कषायप्रकृतियोंका आश्रव करते हैं। खुद कषाय करना, दूसरेमें कषाय उत्पन्न कराना, ऐसा कषायके जागरणका जितना परिणाम है, व्यवहार है वह सब कषायप्रकृतियोंका आश्रव कराता है।

(६९) **हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा नोकषायमोहनीयनामक चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रवोंके कारणोंका प्रयत्न**—अब हास्य वेदनीय नामक नोकषायकर्मप्रकृतियोंके आश्रवके हेतु सुनो—किसीका विशेष मजाक करना, दिल्लगी करना, जिससे वह दुःखी होवे और यह खुद उसका मौज लेवे तो ऐसे उत्प्रहाससे हास्य प्रकृतिका आश्रव होता है। हीनता पूर्वक हँसना या कामविकारपूर्वक हँसना, इस प्रकारकी, बनावटी, विकृत हँसीका भाव हास्य प्रकृतिका आश्रव करता है। बहुत बोलना जिस प्रलापसे स्वयंका सामर्थ्य भी बिगड़े, दूसरोंको

भी बुरा लगे, अट्ट सट्ट वचन भी निकल जायें ऐसा प्रलाप करना, जिसकी चाहे हँसी मजाक करना, ऐसी चेष्टायें, ऐसे परिणाम हास्य प्रकृतिका आश्रव करते हैं। नाना प्रकारके परके साथ क्रीड़ा करना, दूसरेके चित्तको अपनी ओर आकर्षित करना, ऐसे कार्योंमें रति प्रकृतिका आश्रव होता है, दूसरेको अप्रेम, द्वेष उत्पन्न कराना, प्रीतिका विनाश करना, पापशील पुरुषों का संसर्ग करना, खोटी क्रियावोंमें, पाप व्यसन आदिकको उत्साह दिलाना, उत्साह रखना, ऐसे भावोंसे अरतिप्रकृतिका आश्रव होता है स्वयं शोक करना, प्रीतिके लिए दूसरेका शोक करना, दूसरे पुरुषोंको दुःख उत्पन्न कराना, जो शोकसे व्याप्त हो उसे देखकर खुश होना, इस भावसे शोक प्रकृतिका आश्रव होता है, जिसके उदयमें इस जीवको स्वयं अनेक शोक उत्पन्न होने लगते हैं। खुद भयभीत रहना, दूसरोंको भय उत्पन्न करना, निर्दयताके परिणाम रखना, दूसरेको त्रास देना, ऐसे परिणामोंसे भय प्रकृतिका आश्रव होता है, जिसके उदयमें स्वयं यह बहुत भयशील रहेगा। जो धर्मात्मा पुरुष हैं, जो उत्तम लोग हैं उनकी क्रियावोंमें, कुलमें, आचरणमें ग्लानि करना। ऐसा आचरण करने वाले पुरुषोंसे घृणा करना यह जुगुप्सा प्रकृतिके आश्रव कराने वाला भाव है। जुगुप्साकी प्रकृति रखने वाले पुरुष दूसरे की बदनामी करनेकी प्रकृति वाले हो जाते हैं और यही एक घृणाकी बात है। तो ऐसे पाप परिणाम वाले पुरुष जुगुप्सा प्रकृतिका आश्रव करते हैं।

(७०) स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद नोकषायमोहनीय नामक चारित्र मोहनीयकर्मके आस्रवके कारणोंका प्रपञ्च—अब स्त्रीवेदके आश्रवके कारण कहते हैं, अत्यन्त क्रोधके परिणाम होना, बहुत अधिक भीतर घमंड रहना, दूसरोंसे बहुत बड़ी ईर्ष्यायें रखना मिथ्या वचन बोलते रहना, छल कपट करना, जालसाजी छल कपटमें प्रपंचमें अपना दिल बनाये रहना, बहुत तीव्र राग करना, दूसरेकी स्त्रीके साथ काम सेवन करना, स्त्री जैसे परिणामोंमें प्रीति रखना, ऐसे भाव स्त्रीवेद प्रकृतिका आस्रव करते हैं, जिसके उदयमें वे जीव भी स्वयं ऐसा ही आचरण करने लगते हैं जैसे ईर्ष्या करना, मिथ्यावचन बोलना, घमंड होना, क्रोधविशेष आने लगना, ऐसा दुःख पाते हैं और स्त्री पर्याय मिलती है। पुरुषवेदके आश्रवके कारण हैं साधारण क्रोध होना, मायाचारी न होना, घमंड न होना, लोभरहित वृत्ति होना, अल्पज्ञान होना, अपनी स्त्रीमें ही संतोष होना, ईर्ष्या न होना, स्नान आभरण आदिकके प्रति आदर न होना, ऐसी चेष्टायें, ऐसा परिणाम पुरुषवेद प्रकृतिका आश्रव कराता है। अब नपुंसकवेद के आश्रवके हेतु बतलाते हैं तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ होना, गुप्त इन्द्रियका विनाश करना, जैसे इन्द्रियका आपरेशन, बैल आदिकका बधिया करना, स्त्री पुरुषोंकी अनंग क्रीड़ा का विनाश करना, जिन अंगोंसे क्रीड़ा न की जाय उनसे भी तीव्र क्रीड़ा करनेकी आदत

बनाना। शीलव्रतधारी पुरुषोंको विचकाना उत्साहहीन करना, दीक्षाधारी पुरुषोंको बिचकाना, उनका उत्साह भंग करना, दूसरेकी स्त्रीपर आक्रमण करना, तीव्र प्रीति होना, आचरणहीन हो जाना, ये सब परिणाम नपुंसकवेदका आश्रव कराते हैं। अब मोहनीय कर्मके आश्रवोंके हेतुवोंको बताकर क्रम प्राप्त आयुकर्मका वर्णन करेंगे, जिसमें सर्वप्रथम नरक आयुके आश्रवका कारण बतलाते हैं।

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ ६—१५ ॥

(७१) **नरकायुके आस्रवोंके कारणोंका दिग्दर्शन**—बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखना नरकायुके आश्रवका कारण है, यहाँ बहु शब्दका प्रयोग संख्या अर्थमें भी होता है और विपुलता अर्थमें भी होता है। बहु शब्द अनेक जगह संख्याके विषयमें भी प्रयुक्त होता है। जैसे—एक, दो, बहुत, और बहु शब्द विपुल परिमाणमें भी आया करते हैं, जैसे बहुत भात, बहुत दाल आदिको तो यहाँ दोनों प्रकारके "बहु" का ग्रहण है अर्थात् विशाल, विपुल, आरम्भ होना और अनेक आरम्भ होना नरकायुके आश्रवका कारण है। इसी प्रकार बहुत व विपुल परिग्रह होना। आरम्भका अर्थ है हिंसा वाला कार्य जो हिंसाकी प्रकृति रखता है उसे हिंस्र कहते हैं और उसके कामको हैंस्र अर्थात् आरम्भ कहते हैं। बहुत आरम्भ जिसके हो वह पुरुष नरकायुका आश्रव करता है। परिग्रहका अर्थ है यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूं, इस प्रकारका परिणामका अभिमानका संकल्प होना परिग्रह है। बहुत आरम्भ बहुत परिग्रह जिसके होता है उसका यह परिणाम नरकायुका आश्रव कराता है। इस परिणामको कुछ विशेष स्पष्ट करते हैं और जो कुछ ऐसे ही अन्य परिणाम हैं उनको भी बताते हैं।

(७२) **नरकायुके आस्रवके कारणोंका संक्षिप्त प्रपञ्च**—मिथ्यादर्शनका परिणाम नरकायुका आश्रव कराता है। जहाँ स्वपरका यथार्थ बोध नहीं है, परपदार्थोंसे अपना स्वरूप समझते हैं, अपने प्राण समझते हैं, ऐसे अज्ञान अँधेरे वाले पुरुष नरकायुका आश्रव करते हैं। अशिष्ट आचरण जो असभ्य आचरण है, जो लोक व्यवहारमें उचित नहीं है ऐसी प्रक्रिया करना, बहुत अधिक मान रखना, पत्थरकी रेखाके समान क्रोध भाव करना, जैसे पत्थरकी रेखा अनेकों वर्षों तक नहीं मिटती ऐसे ही जिसका क्रोध अनेकों वर्षों तक न मिटे, उसकी वासना बनी रहे, ऐसा क्रोध, तीव्र लोभका परिणाम, दयारहित परिणाम, क्रूरता ये सब परिणाम नरकायुका आश्रव कराते हैं। दूसरे दुःखी हो तो उसमें खुश होना, दूसरोंके परिताप आदिमें खुश होना, जैसे अनेक लोग मनुष्योंको तंगाते हैं या चूहा पक्षी आदिको बाँधकर उनको सतानेमें खुश होते हैं ये सब नरकायुका आश्रव कराने वाले भाव हैं। दूसरेको मारनेका अभि-

प्राय करना, जीवोंकी सतत हिंसा करना, झूठ बोलनेकी प्रकृति रखना, दूसरेका धन हरण कर लेना, छुपे-छुपे राग भरी चेष्टायें करना, मैथुन विषयोंमें प्रवृत्ति रखना ऐसे ये परिणाम नरकायुका आश्रव कराते हैं। महान आरम्भ होना, इन्द्रियके आधीन बनना, काम भोगकी तीव्र अभिलाषा रखना, शील स्वभाव व्रत आदिकसे रहित रहना, पापाजीविका करके भोजन करना, किसीसे बैर बाँधना, क्रूरता पूर्वक रोना, चिल्लाना, ऐसी चेष्टावोंके परिणाम नरकायुका आश्रव कराते हैं, जिससे नरकायुके उदय होनेपर नियमसे नरकगतिमें जन्म लेना पड़ता है और वहाँ सागरों पर्यन्त ठहरकर कष्ट भोगना पड़ता है। दयारहित स्वभाव होना, साधुसंतोंमें फूट पैदा कराना, तीर्थंकर गुरुजनोंकी आसादना करना, उनकी मूर्तिका निरादर अथवा उनमें दोषोंका लगाना, कृष्ण लेश्यारूप रौद्र परिणाम रखना, क्रूरभाव सहित मरण करना, ये सब नरकायुके आश्रव कराने वाले भाव हैं, अर्थात् ऐसे कार्योंसे नरकायु प्रकृतिका बंध होता है और उसके उदयमें इस जीवको नारकी होना पड़ता है। अब तिर्यञ्चायुके आश्रवका वर्णन करते हैं।

माया तैर्यग्योनस्य ॥ ६—१६ ॥

(७३) **तिर्यगायुके आस्रवके कारणोंका प्रकाशन**—चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो आत्माका कुटिल स्वभाव है, छल कपटका भाव है उसको माया बोलते हैं। यह माया छल कपट, लोगोंका ठगना, तिर्यञ्चायुका आश्रव कराता है। सूत्रमें माया एक संक्षिप्त शब्द है और उससे सम्बंधित कैसी कैसी क्रियायें व परिणाम बन जाते हैं उनका कुछ विस्तार करते हैं। मिथ्यादर्शन सहित अधर्मका उपदेश करना, जिसमें वस्तुस्वरूप उल्टा बताया गया अथवा रागादिकके पोषनेकी बात बतायी गई, ऐसी अधर्मवृत्तिका उपदेश करना यह परिणाम तिर्यञ्चायुका आश्रव कराता है। बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह होना, दूसरोंको ठगना, खोटे कार्य करना, खोटे लेख लिखना, अनेक षड्यन्त्र बनाना, पृथ्वीकी रेखाके समान क्रोधादिक होना, ये परिणाम तिर्यञ्चायुके आश्रवके कारण हैं। नरकायुमें तो पत्थरकी रेखाके समान क्रोध कहा था जो सैकड़ों वर्षों तक न मिटे। यहाँ पृथ्वीकी रेखाके समान क्रोध कह रहे हैं, जैसे खेतमें हल चलाया जाता तो उससे जो लकीर बन जाती है वह लकीर सैकड़ों वर्षों तक नहीं रहती। साल छेह माह भी नहीं टिक पाती, ऐसा क्रोध होना, शीलरहित भाव होना शब्दके संकेतसे दूसरोंके ठगनेका षड्यंत्र बनाना, छलप्रपंच करने की रुचि होना, एक दूसरेकी फूट कराकर खुश होना, अनर्थ क्रियायें करना ये सब परिणाम तिर्यञ्चायुकर्मका आश्रव कराते हैं। पदार्थोंमें विकृति लानेका शौक रहना, वर्ण रस, गंध आदिक एकका दूसरेमें मिलावट करना, विकृत करना, उसका शौक करना, मौज बनाना, किसी की जातिमें, कुलमें शीलमें दूषण लगाना, विवाद विसंवाद करनेकी रुचि करना, दूसरेमें कैसे ही सद्गुण हों

उनका लोप करना, प्रकट न होने देना और दोषादिकके रूपमें जाहिर करना, अपनेमें कोई गुण नहीं है तो भी उन गुणोंकी प्रसिद्धि करना। अथवा जिससे प्रीति है, अनुराग है उसमें कोई गुण न हो तो भी उसके गुण बखानना। नील लेश्या और कापोत लेश्या जैसे परिणाम होना, आर्तध्यान रखना, मरणके समयमें आर्त रौद्र परिणाम होना ये सब परिणाम तिर्यंचायु कर्मका आश्रव कराते हैं।

अब मनुष्यायुके आस्रवके कारण बतलाते हैं—

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥६—१७॥

(७४) **मनुष्यायुके आस्रवोंके कारणोंका वर्णन**—मनुष्यायुके आश्रवके कारण नरकायुके आश्रवके कारणोंसे उल्टे हैं। नरकायुके आश्रवके कारण बहुत आरंभ और बहुत परिग्रहपना था, यहाँ मनुष्यायुके आश्रवके कारण अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहपना बतलाया है। संकेत रूपसे कहे गए अल्पारंभ परिग्रहका कुछ विस्तार इस प्रकारसे करना, भद्र मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादृष्टि होनेपर भी भद्र परिणाम रहना, विनीत स्वभाव अर्थात् सबके प्रति, धर्मके प्रति विनयका स्वभाव रखना, प्रकृति भद्रता अर्थात् प्रकृतिसे भद्र अच्छे आशय वाला, सबके कल्याणकी भावना रखने वाला होना। मार्दव आर्जव परिणाम, परिणामोंमें नम्रता और सरलताका होना, ये सब परिणाम मनुष्यायुका आश्रव कराते हैं। सुख समाचार कहनेमें रुचि होना, जैसे अनेक लोग दुःखके समाचार झट कह डालते हैं, पर मनुष्यायुका आश्रव करने वाले पुरुषकी ऐसी आदत नहीं होती। उसे दूसरोंसे भला व सुखमय समाचार कहनेका शौक होता है। रेतमें रेखाके समान क्रोधादिक होना, जैसे बालूमें, रेतमें कोई रेखा खींच दी जाय तो वह अधिक समय तक नहीं रहती ऐसे ही सामान्य क्रोधादिक होना ये सब मनुष्यायुके आश्रव कराने वाले परिणाम हैं। सरल व्यवहार होना, मायाचाररहित सबको विश्वास उत्पन्न कराने वाला व्यवहार होना, थोड़ा आरम्भ होना, उद्यम आरम्भके कार्य प्रति अल्प होना, थोड़ा परिग्रह होना, बाह्य पदार्थोंमें लगाव कम होना, संतोषमें सुखी होना अर्थात् संतोष करनेकी आदत होना और उस ही में अपनेको सुखी अनुभवना ये सब मनुष्यायुकर्मका आश्रव कराने वाले हैं। हिंसासे विरक्त होना, किसी जीवकी हिंसाका परिणाम न होना, खोटे कार्योंसे अलग रहना, सज्जनोंके, महापुरुषोंके, बड़ोंके स्वागतमें तत्पर रहना, कम बोलना, प्रकृतिसे मधुर होना, सबको प्रिय होना, उदासीन वृत्ति होना, ईर्ष्यारहित परिणाम होना, संक्लेश साधारण व अल्प रहना ये सब परिणाम मनुष्यायुके आश्रवके कारण हैं। गुरु देवता अतिथिकी पूजामें शौक होना, दान करनेका स्वभाव होना, जैसे कपोत लेश्याके परिणाम होते, पीत लेश्याके परिणाम होते, ऐसा परिणाम होना, मरण समयमें धर्मध्यानमें

प्रवृत्ति होना ये सब परिणाम मनुष्यायुका आश्रव कराते हैं।

अब मनुष्यायुके आश्रवका अन्य कारण भी कहते हैं—

स्वभावमार्दवं च ॥ ६-१८ ॥

(७५) **मनुष्यायुके आस्रवका व्यापक कारण**—उपदेशके बिना स्वभावसे ही परिणामोंमें कोमलता होना मनुष्यायुका आश्रव कराता है। इस सूत्रसे पूर्व सूत्रमें भी मनुष्यायु का आश्रव कारण बताया गया, और यहाँ भी मनुष्यायुके आश्रवमें ही सूत्र बताया है। तो ये दोनों सूत्र कहे जा सकते थे, इनको अलग क्यों बनाया गया? इस सूत्रको जो अलग रखा गया उससे एक रहस्य जाहिर होता है कि स्वभावमें मृदुता मनुष्यायुके आश्रवका कारण तो है ही पर देवायुके आश्रवका भी कारण है। तो इस सूत्रका सम्बंध आगे कहे जाने वाले देवायु के आश्रव कारणोंके साथ लगता है।

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥६-१९ ॥

(७६) **शीलव्रतरहित स्थितिके परिणामोंके तीन व चारोंमें से किसी भी आयुके आस्रवकी कारणता**—शील और व्रतसे रहितपना सभी आयुके आश्रवोंका कारण है। अर्थात् शील न हो, व्रत न हो तो ऐसी स्थितिमें सभी आयुका आश्रव हो सकता है। यहाँ सभी जीवोंको कहा, उससे चारों गतियोंके जीव न लेना, किन्तु नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु इन तीन आयुका आश्रव होता है यह लेना, क्योंकि अब तक जितनी आयु बतायी गई हैं उनका ही ग्रहण होगा। यहाँ यह एक और शंका होती है कि उस सूत्रको भी योगसे क्यों कहा? तो अलगसे कहनेका अर्थ यही है कि यह तीन आयुके लिए कहा गया है। यदि आयु के आश्रवके लिए ही कहा जाता होता तो सर्वेषां शब्द न देना चाहिए था तथा सूत्र भी अलग न बनाया जाना चाहिए था। तो इस सूत्रका अर्थ तीनों आयुमें लगता है। दूसरी बात यह है कि यह सूत्र जो अलग बनाया गया सो उससे देवायुका भी ग्रहण तो किया जा सकता मगर भोगभूमिमें रहने वाले मनुष्य तिर्यंचोंकी अपेक्षा अर्थ लगेगा अर्थात् भोगभूमिके तिर्यंच और मनुष्योंमें शील और व्रत दोनों ही नहीं होते लेकिन वे देवगतिमें ही जाते हैं, तो उनके देवायुका आश्रव है यह बात दिखानेके लिए सर्वेषां शब्द ग्रहण किया गया है। अब तीन आयु के आश्रवका विधान कहनेके पश्चात् देवायुका विधान बतलाते हैं।

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥६-२०॥

(७७) **देवायुके आस्रवके कारणोंमें सराग संयमादि मुख्य कारणोंका निर्देश**—सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायुके आश्रवके कारण होते हैं।

सरागसंयमका अर्थ है मुनियोंका शुभोपयोगरूप चारित्र। ज्ञानसहित संयमको सरागसंयम कहते हैं अथवा रागसहित जीवके संयमको सरागसंयम कहते हैं। अरहंत आदिकमें भक्ति जगना, साधर्मी भाइयोंमें प्रीति जगना, उपवास आदिकमें भावना होना ये सब शुभोपयोग कहलाते हैं। तो ऐसे शुभोपयोगियोंके संयम सराग संयम कहलाता। तो सराग संयमका पालन देवायुके आश्रवका कारण होता है। जितने भी मुनिजन हैं वे देवायुका ही आश्रव करते हैं अर्थात् मुनिजन या तो मोक्ष जायेंगे या देवगतिमें उत्पन्न होंगे, पर सच्चा सच्चा मुनि होता है भावमुनि। मानो किसी पुरुषने पहले नरकायु, तिर्यंचायु व मनुष्यायुका बंध कर लिया तो उसके महाव्रत धारण करनेके परिणाम न होंगे। जिसने देवायुका बंध किया हो या किसी भी आयुका बंध न किया हो उसके महाव्रत ग्रहण करनेके परिणाम होते हैं। वह महाव्रत ग्रहण करता है। तो जिसने देवायुका बंध किया और मुनि बना उसके तो निश्चित ही हो गया कि वह मरकर देवगतिमें उत्पन्न होगा, पर जिसके किसी आयुका बंध न था और मुनि हो गया तो मुनि हुए बाद यदि आयुका बंध होता है तो देवायुका ही बंध होता है। तो इस प्रकार सराग संयम देवायुके आश्रवका कारण है। संयमासंयम—श्रावकके व्रतों को संयमासंयम कहते हैं। ऐसा व्रत परिणाम कि जहाँ कुछ संयम है और कुछ असंयम है। वह संयमासंयम है। संयमासंयमका भी यही नियम है। जिस मनुष्य या तिर्यंचने पहले देवायुका बंध किया हो उसके या जिसने किसी भी आयुका बंध न किया हो उसके संयमासंयम होता है और जिस किसीके संयमासंयम हो गया और किसी भी आयुका बंध नहीं किया तो अब आयुका बंध होगा ही तो वह देवायुका ही बंध होगा। तो इस प्रकार संयमासंयम भी देवायुके आश्रवका कारण है। अकामनिर्जरा कोई दुःख उपस्थित होने पर उसे समतासे सहना सो अकाम निर्जरा है। यह अकामनिर्जरा– देवायुके आश्रवका कारण है। बालतप—अज्ञान अवस्थामें धार्मिक बुद्धि करके पंचाग्नि आदिक अनेक प्रकारके जो तपश्चरण किए जाते हैं वे बाल तप कहलाते हैं। देवायुके आश्रवके ये कारण सामान्यरूपसे कहे गए हैं।

(७८) सौधर्माद्यायुके आस्रवके कारणोंका प्रपञ्च—

कुछ विशेष रूपसे इस प्रकार समझना कि सौधर्म आदिक स्वर्गकी आयुके आश्रवरूप परिणाम ये हैं। कल्याण चाहने वाले मित्रोंका साथ रखना, ऐसे मित्रोंका संघ बनाना जो सब कल्याणकी इच्छा रखने वाले हों। आयतन सेवा जो धर्मके स्थान हैं मंदिर, गुरुसेवा, साधर्मी बन्धु व्रती पुरुष इनकी सेवा करना आयतनसेवा है। उत्कृष्ट धर्मका श्रवण करना। जो उपाय दुःखसे हटाकर सुखमें पहुंचाये वह सद्धर्म है। जो वस्तुमें स्वभाव है वह उस वस्तुका धर्म है। आत्माका स्वभाव ज्ञानरूप है। उसकी दृष्टि करना, उसका आश्रय लेना सो सद्-

धर्म है। सद्धर्मकी वार्ता सुनना सद्धर्म श्रवण है। ये सब सौधर्मादिक स्वर्गके आयुके आश्रव हैं अर्थात् देवायु तो बँधती है पर उनमें भी सौधर्म आदिक स्वर्गोंमें उत्पन्न हों उतनी आयु बँधती है। स्वगौरव दर्शन—अपने आत्माका गौरव निरखना, अभिमान नहीं किन्तु गौरव, अभिमानमें तो दूसरेके प्रति तुच्छताका परिणाम होता है, पर गौरवमें दूसरेके प्रति तुच्छता का भाव नहीं हैं किन्तु अपने गुणोंपर गौरव है। और उस आत्माके सहज गुण हैं कारण समयसाररूप उनका आश्रय तो मोक्षमार्ग ही कहलाता है। निर्दोष प्रोषधोपवासता—उपवास प्रोषध पूर्वक उपवास यह निरतिचार चलता है। ऐसा परिणाम रहना, तपकी भावना, अनशन आदिक तप करे और प्रसन्न होकर करे और तपश्चरण करनेकी भावना रहे सो तपभावना है। बहुश्रुतपना—आगमका खूब अभ्यास होना, तत्त्वोंकी जानकारी होना बहुश्रुतपना है। आगमपरता—आत्माका ज्ञान और आगममें बताये हुए तत्त्वोंका चिन्तन मनन उस ही में उपयोग रखना आगमपरता है। कषायनिग्रह—क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायोंको वश करना। कदाचित् कषायें आयें तो ज्ञानके बलसे उन्हें तोड़ देना सो कषायनिग्रह है। ये सब ररिणाम सौधर्म आदिक स्वर्गके आयुके आश्रवके कारण हैं। पात्रदान—रत्नत्रयके धारी दिगम्बर मुनि उत्तम पात्र कहलाते हैं। भक्तिपूर्वक सुपात्रदान करना, सेवा करना पात्रदान है, पीत और पद्मलेश्याके परिणाम होना, जो धर्मसे सम्बन्ध रखता है, समता परिणाममें बढ़ता है वे सब परिणाम सौधर्मादिक स्वर्गकी आयुके आश्रव है। मरण समयमें समाधिमरण, धर्मध्यानकी प्रवृत्ति आत्मभावना और भी धर्मभावना, तीर्थक्षेत्रका स्मरण तीर्थंकरोंका स्मरण परमात्माका स्मरण, आत्मस्वरूपका स्मरण यों मरणके समय धर्मध्यानरूप प्रवृत्ति रहे वे सौधर्मादिक स्वर्गकी आयुके आश्रव हैं।

(७९) **भवनाद्यायुके आस्रवके कारण**—कुछ परिणाम भवनवासी आदिकके आश्रव करने वाले हैं। जैसे अव्यक्त समायिक करना, पर उसमें भी कुछ भी बोलचाल या अन्य क्रिया जिससे कि वह सामायिक व्यक्त नहीं होती ऐसा परिणाम, और सम्यग्दर्शनकी विराधना सम्यत्त्व है। पर उसका घात हो जाय, सम्यक्त्व मिटने लगे ऐसा परिणाम भवनवासी आदिकके आयुके आश्रवके कारण है।

(८०) **विभिन्न स्वर्गादिकोंकी आयुके आस्रवके कारणोंका प्रपञ्च**—कुछ परिणाम प्रथम स्वर्गसे लेकर अच्युतस्वर्ग अर्थात् १६ वें स्वर्ग तकके देवोंमें उत्पन्न हों, ऐसे देवायुके आश्रव के कारण बनते हैं। जैसे पंचअणुब्रतका धारण करना, ऐसा सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च होना या मनुष्य होना जो पञ्च अणुब्रतका धारण करे तो उसका प्रथम स्वर्गसे लेकर १६ वें स्वर्ग पर्यन्त तक के देवोंमें उत्पन्न होने लायक देवायुका आश्रव होता है। हाँ उन जीवोंके जो अणुब्रत धारक

हैं, सम्यग्दर्शनकी विराधना हो जाय, सम्यक्त्व नष्ट हो जाय, मिथ्यात्वमें आये तो स्वर्गोंमें न जाकर भवनवासी आदिकमें उत्पन्न होता है। कुछ ऐसे सन्यासीजन जिन्होंने घर छोड़ रखा, जो जंगलमें रहते हैं, पर बाल तप तपा करते हैं, तत्त्वज्ञानसे रहित हैं, अज्ञानी हैं, पर मंद-कषाय हैं, उस मंद कषायके कारण अनेक बाल तप तपने वाले सन्यासीजन भवनवासीसे लेकर १२ वें स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। उनके उस प्रकारके देवायुका आश्रव हो हो, यहाँ यह नियम नहीं है कि वह देवमें ही जाय। कोई मरकर मनुष्य भी होते, तिर्यञ्च भी हो जाते, पर देवायु बँधे तो उस प्रकार बँधे यह बात यहाँ बतायी जा रही है। इन्हीं कारणों जैसे कुछ कारण हैं जिनसे देवायु न बँधकर मनुष्य, तिर्यञ्च और व्यन्तरोंमें उत्पन्न हो लेते हैं।

(८१) व्यन्तरों सम्बन्धित आयुके आस्रवोंके कारण—तो व्यन्तरोंमें उत्पन्न हो सके ऐसा परिणाम, यह है अकाम निर्जरा। भूख प्यासका सहना, ब्रह्मचर्य, पृथ्वीपर सोना, मल धारण याने शरीरपर मल हो तो उसे भी न छुटाये, ऐसे परीषहोंसे खेदखिन्न न होना, किन्हीं मूढ़ गुप्त पुरुषोंके बंधनमें पड़नेपर भी न घबड़ाना। बहुत कालसे बीमार चले आ रहे ऐसे रोगमें भी संक्लेश परिणाम न करना। पर्वतके शिखरसे धर्म मानकर झंझापात गिर जाना, अनशन करना, अग्निमें प्रवेश करना विष भक्षण करना, इनको ही धर्म मानें और धर्म मानकर ये किए जायें तो ऐसे संन्यासी कुतपी व्यंतरोंमें उत्पन्न होते हैं और कुछ मनुष्य तिर्यञ्चोंमें भी हो सकते हैं। जिन पुरुषोंने शील या व्रतका धारण नहीं किया, किन्तु दयावान हृदयके हैं, जलरेखाकी तरह मंद कषाय हैं, जैसे जलमें लाठीसे रेखा की जाय तो वह तुरन्त समाप्त हो जाती है इतनी मंद कषाय है, ऐसा कोई भोगभूमिका जीव है वह देवोमें तो होगा, मगर यह शीलकी तरफ जरा भी दृष्टि न होनेसे व्यन्तर आदिकमें उत्पन्न होता है। यद्यपि भोगभूमिमें शील और व्रतका नियम किसीके नहीं होता, पर भावोंमें अनेकोंके धर्मदृष्टि रहती है। जिनके धर्मकी दृष्टि भी नहीं ऐसे भोगभूमिज व्यन्तर आदिकमें उत्पन्न होते हैं। अब आयुके आश्रवके कारणोंमें एक अन्तिम सूत्र कहते हैं।

सम्यक्त्वं च ॥६-२१॥

(८२) सम्यक्त्व होते संते संभावित आयुर्बन्धका विवरण—सूत्रका अर्थ है—सम्यक्त्व भी देवायुके आश्रवका कारण है। इसका भाव यह समझना कि सम्यक्त्व तो देवायुके आश्रवका कारण नहीं, वह तो मोक्षका मार्गरूप है, पर सम्यक्त्वके होते सन्ते राग परिणाम के कारण, शुभानुरागके कारण आयु बंधती है तो देवायु बँधती है, इससे भी यह जानना कि यह मनुष्यकी अपेक्षा कथन चल रहा है। तिर्यञ्च भी ग्रहण कर सकते, सम्यक्त्वके होनेपर मनुष्य या तिर्यंचोंमें आयु बँधती तो देवायु, मगर नारक और देवमें रहने वाले सम्यग्दृष्टिको आयु बँधती है मनुष्यायु। यहां पृथक् सूत्र दिया है, उससे यह ज्ञात होता कि सम्यक्त्व होने

पर जो आयु बंधेगी तो सौधर्म आदिक स्वर्गवासी देवोंके बँधेगी और इस सूत्रसे यह भी सिद्ध होता कि पहले जो सरागसंयम और संयमासंयम देवायुके कारण बताये थे सो वे इन वैमानिकोंकी आयुके आश्रवके कारण हैं। सम्यक्त्व होनेपर भवनवासी आदिक देवोंमें उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। अब आयुकर्मके अनन्तर नामकर्मका निर्देश है। तो नामकर्मके आश्रव कौन हैं यह जाननेके लिए चूंकि नामकर्मके दो प्रकार हैं—(१) अशुभ नामकर्म और (२) शुभ नामकर्म तो उनमें अशुभ नामकर्मके आश्रवकी जानकारीके लिए सूत्र कहते हैं—

योगवक्रता विसंवादनं चाऽशुभस्य नाम्नः ॥६-२२॥

(८३) अशुभनामकर्मके आस्रवके कारणोंका प्रतिपादन—योगोंकी कुटिलता और विसम्वाद करना ये सभी नामकर्मके आश्रवके कारण हैं। योग ३ होते हैं—काय, वचन और मन, उनकी कुटिलता परस्पर असामंजस्य अर्थात् मनमें और, वचनमें और करे कुछ और तथा इनका दुष्ट रूपसे प्रवर्तन करना ये अशुभ नामकर्मका आश्रव कराते हैं। विसम्वाद अन्याय प्रवृत्तिको कहते हैं। कोई कुछ चाहता है उसके विरुद्ध प्रवृत्ति करने लगना वह विसम्वाद कहलाता है। विसम्वादका अर्थ प्रसिद्ध है झगड़ा करना। तो वास्तवमें झगड़ा करना अर्थ नहीं है, पर दूसरेके मनके विरुद्ध प्रवृत्ति जो करेगा सो उससे झगड़ा होगा ही। तो झगड़ा तो फल है और विसम्वाद कारण है। तो यों विसम्वाद करना अशुभ नामकर्मका आश्रव कराता है, योगवक्रतामें तो सरलतारहित उपयोग करनेकी बात थी और विसम्वादमें दूसरेके प्रति अन्य प्रकारसे प्रवर्तन करने व प्रतिपादन करनेकी बात है, यही विसम्वाद कहलाता है। यद्यपि कुछ कारण अनेक प्रकृतियोंका आश्रव करते सो ठीक ही है। किस किस कर्मके लिए क्या क्या कारण चाहिए सो उन कारणोंका वर्णन किया है, पर उस कारणमें ज्ञानके विषय में आश्रव करना, नामकर्मका आश्रव करना सभी बातें बसी हुई हैं। यहाँ अशुभ नामकर्मके आश्रवमें योगवक्रता और विसम्वादको आश्रवहेतु बताया गया है।

(८४) योगवक्रता व विसंवादनमें अन्तर—यहाँ शंकाकार कहता है कि केवल योगवक्रता ही शब्द देना चाहिए, क्योंकि विसम्वादमें भी योगवक्रता ही तो है अन्यथा प्रवृत्ति करना यह ही तो योगोंकी कुटिलता कहलाती है। तब विसम्वादन शब्द अलगसे न कहना चाहिए। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यहाँ कुछ एक नया प्रयोजन सिद्ध होता है विसम्वादन शब्द अलग देनेसे एक तथ्य ज्ञात होता है और वह क्या है कि अन्य आत्मावोंमें भी विसम्वाद भावका प्रयोजन बना है। सच्ची स्वर्ग और मोक्ष वाली क्रियावोंमें कोई प्रवृत्ति कर रहा हो उस अन्य पुरुषको काय, वचन, मनसे विसम्वाद कर देना, बिचका देना, ऐसा मत करें, ऐसा करें, इस प्रकार कुटिलतासे प्रवृत्ति करना विसम्वादन है और योगवक्रता—

केवल अपने आपमें योगकी कुटिलता है, वह अर्थ है तो इस प्रकार योगवक्रता और विसम्वादनमें भेद हो गया। तो जब ये सर्वथा एक न रहे तो इनका अलग प्रयोग करना उचित ही है।

(८५) अशुभ नामकर्मके आस्रवोंके कारणोंमें मिथ्यादर्शन, पिशुनता, अस्थिरचित्तस्वभावता व कूटमानतुलाकरणका निर्देश—इस सूत्रमें च शब्द भी दिया हुआ है जिससे अन्य कारणोंका समुच्चय कर लिया जाता है वह अन्य कारण क्या है जिससे अशुभ नामकर्मका आश्रव होता है। वह इस प्रकार है—मिथ्यादर्शन—जिनके मिथ्यादर्शनका परिणाम है उनके नामकर्म अशुभ ही आश्रवमें आयेंगे। किसी भी भावके होते हुए ७ कर्मोंका आश्रव तो होता ही है। आयुकर्मका आश्रव ८ अंशोंमें होता है जिनका कि कथनोंके हिसाबसे अलग-अलग विधान है, पर ७ कर्मोंका तो सदैव आश्रव होता है तो वह परिणाम अमुक कर्मका किस तरह आश्रव करता अमुक कर्मका कैसे आश्रवका कारण है वह सब बताया जा रहा है। तो मिथ्यात्वका परिणाम अशुभ नामकर्मका आस्रव करता है। पिशुनता—चुगली करना, गुपचुप किसीका परिवाध करना यह सब पैसून्य कहलाता है। अब खोटे परिणाम अशुभ नामकर्मका आस्रव कराते हैं, चित्तका अस्थिर होना—ऐसी प्रकृति बन जाय कि चित्त स्थिर ही न हो सके, ऐसे समयमें जो परिणाम चलते हैं वे परिणाम अशुभनामकर्मका आस्रव करते हैं। झूठे बाट, तराजू आदिक रखना, व्यापारमें लेनेके समय अन्य प्रकारके बाट, देनेके समय अन्य प्रकारके बाट अथवा तराजूमें कोई अंतर डाल देना।

(८६) अशुभ नामकर्मके आस्रवोंके कारणोंमें सुवर्णमणिरत्नाद्यनुकृति कुटिलसाक्षित्व आदिका प्रतिपादन—कृत्रिम स्वर्ण मणि रत्न आदिक बनाना, ऊपरसे जचे कि यह सोना है, उसके भीतर तांबा पीतल है, ऊपर स्वर्णका पानी चढ़ाया है और उसे सच्चे स्वर्णके रूपमें बेचना चाह रहा है तो ऐसे ही मणि रत्न आदिक झूठे बनाना, नकली बनाना ये सब परिणाम क्रियायें नामकर्मके आश्रवका कारण भूत हैं। झूठी गवाही देना, अंगोपांगका छेदन कर देना, पदार्थोंके रस, गंध आदिकका विपरीत परिणमा देना, यंत्र पिंजरा आदिक बनाना, जिनमें जीव फांसे जाते, हैं, मायाकी बहुलता होना ये सब अशुभ नामकर्मके आश्रवके कारणभूत हैं। दूसरे पुरुषकी निन्दा करना, अपने आपकी प्रशंसा करना, मिथ्या बचन बोलना, दूसरेका द्रव्य हरना, ऐसी अनर्थ क्रियायें अशुभ नामकर्मका आश्रव करती हैं। बहुत आरम्भ करना, आरम्भ उसे कहते हैं जिसमें हिंसा होती हो, ऐसी काय आदिककी चेष्टायें करना, महान् आरम्भ करना, महान् परिग्रह भाव रखना, बाह्य पदार्थोंमें लगाव रखना, भेषको शौकीन बनाना प्राय: लोग नाना प्रकारके भेष बनाते हैं, अनेक कमीजें हैं, अनेक साड़ियां हैं, अनेक ढंगके

आभूषण हैं, उन्हें बदल बदलकर पहिनना और पहिनकर अपने आपमें मैं कितना अच्छा लगता हूं इस प्रकारका भाव बनाना, दूसरोंको दिखाना ये सब अशुभनामकर्मके आस्रव कराते हैं, जिसके उदयमें अशुभ शरीर अशुभ अंग इनकी प्राप्ति होगी। रूपका घमंड करना। कोई गौर रूप मिल गया उसे निरखकर अभिमान करना, कठोर और असभ्य वार्तायें करना, बुरे वचन बोलना और निर्दयता वाले वचन बोलना, गाली बकना, व्यर्थ बकवास करना, अधिक बोलनेकी प्रकृति रखना ये सब अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारण हैं। वशीकरण प्रयोग, दूसरे को वश करनेके लिए मंत्र तंत्र, जादू आदिकका प्रयोग करना, कहना। सौभाग्यका उपभोग तो कुछ धन वैभव मिला, रूप मिला तो उसका उपभोग शौक शान जैसी वृत्तियों से रहना, दूसरों में कौतूहल उत्पन्न करना, कोई बात ऐसी छेड़ी जिससे लोगों को जिज्ञासा बढ़े, उनका खेल बढ़े, कौतूहल बढ़े, ये सब अशुभ नामकर्मके आस्रव कराते हैं। आभूषणों में रुचि होना, गहनों को देखकर खुश होना, मंदिरकी माला, धूप आदिक कुछ वस्तुयें चुराना, लम्बी हँसी करना, घटनामें लम्बी अथवा कालमें लम्बी या उसकी लम्बी पीड़ा वाली हँसी करना, ईंटों का भट्टा लगाना, बनमें अग्नि जलाना, प्रतिमाके जो आयतन हैं मंदिर आदिक उनको तोड़ देना ये सब क्रियायें अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारणभूत हैं। किसीके आश्रयका नाश कर देना जैसे चिड़ियोंने घोसला बनाया, वे चिड़िया वहाँ रहेंगी, उसे आश्रय बनाया, उसमें बच्चे उत्पन्न करेंगी तो उन आश्रयोंका विनाश कर देना आश्रय विनाश कहलाता है। आराम उद्यानका विनाश करना, अधिक क्रोध, मान, माया, लोभ करना, पाप कर्मोंसे अपनी आजीविका चलाना ये सब अशुभ नाम कर्मके आस्रवके कारणभूत हैं। अब शुभ नामकर्मके आस्रव के कारण कहे जाते हैं।

तद्विपरीतं शुभस्य ॥६--२३॥

(८७) **शुभनामकर्मके आस्रवोंके कारण**—ऊपर सूत्रमें कहे गए जो दो कारण हैं उनके विपरीत कारण बनें तो वे शुभ नाम कर्मका आस्रव करते हैं। जैसे मन, वचन, काय में सरलता करना याने योगोंमें वक्रता न होना और किसीसे विसम्वाद न करना ये शुभ नामकर्मके आस्रवके कारण हैं। यहाँ भी च शब्दका अनुवृत्ति लेना और उसका अर्थ लेना तो कुछ अन्य भी कारण हैं। जिनसे शुभ नामकर्मका आस्रव होता है। जैसे धार्मिक व्यक्तियोंके प्रति आदरभाव होना, शरीरसे, मनसे और वचनसे उनके आदर सत्कारका भाव हों तो शुभ नामकर्मका आस्रव होता है। संसारसे भीरुता होना, संसारमें राग न जगे किन्तु विरक्ति बने, संसारके दुःखोंसे भयभीतता रहे, यह शुभ नामकर्मका आस्रव कराता है। धर्म कार्योंमें प्रमाद न रहे, चारित्र निश्छल रहे, चारित्रमें छल, कपट, मायाचार न हो तो ये

सब अशुभ नामकर्मके आस्रवके विपरीत भाव हैं, ऐसे ही और भी अनेक शुभभाव समझना चाहिए। उनके होने पर अशुभनामकर्मके आस्रव नहीं रहते हैं। यहाँ तक नामकर्मके आस्रव के कारण बताये गए। इसी बीच एक जिज्ञासा होती है कि क्या शुभ नामकर्मके आस्रवकी विधि इतनी ही है या और कोई विशेषपना है? उसके उत्तरमें कहते हैं कि एक तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति है। अप्रमत्त पुण्यरूप जो अनन्त अनुपम प्रभाव वाली है और अचिन्त्य विशेष विभूतिका कारणभूत है, तीन लोक पर विजय करने वाली है ऐसी तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव होने की विधि विशेषका वर्णन करते हैं। तो यहाँ यदि ऐसा ही है तीर्थंकर प्रकृति का उच्च फलका तेज तो उसका ही आरम्भ है, तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवके क्या क्या कारण हैं यह इस सूत्रमें बतलाते हैं।

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्ति-रावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ॥६-२४॥

(८८) **तीर्थंकरप्रकृतिके आस्रवके कारणोंमें दर्शनविशुद्धिभावनामें निःशंकित अंगका निर्देशन**——दर्शन विशुद्धि आदिक जिन जिनके इस सूत्रमें नाम दिए गए हैं वे वे सब परिणाम तीर्थंकर प्रकृतिके आश्रव करनेके कारणभूत हैं। दर्शनविशुद्धि——जिनेन्द्र भगवानके द्वारा उपदेशे गए निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गकी रुचि होना, जो रुचि निशंकित आदिक ८ अंगों वाली है वह रुचि दर्शनविशुद्धि कहलाती है। जिनेन्द्र भगवानने, अरहंत देवने जो निर्ग्रन्थ रूप मोक्ष मार्ग उपदेशा है उस उपदेशमें रुचि होना दर्शनविशुद्धि है। उस दर्शनविशुद्धिके ८ अंग होते हैं। (१) निशंकित (२) निकांक्षित, (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढ़दृष्टि (५) उपवृंहण (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना। निशंकित अंगमें ७ प्रकारका भय दूर हो जाता है। ७ प्रकारके भय अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवोंके लगे रहते हैं, जैसे इहलोक भय——इस लोकमें हमारा किस तरह गुजारा होगा, हम किस तरह रह पायेंगे, उसके विषयमें भय बनाये रहना इहलोक भय है किन्तु जिन्होने आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपका अनुभव किया है उनका यह दृढ़ निर्णय है कि मेरा सारा लोक तो मेरा आत्मस्वरूप है उस स्वरूपमें विकार नहीं, विपत्ति नहीं, किसी परका प्रवेश नहीं फिर वहाँ भयकी क्या सम्भावना? स्वरूपको निरखकर ज्ञानी पुरुष निर्भय रहा करते हैं और यह निर्भयता उनका निशंकित अंग है। अथवा जिनेन्द्र देव द्वारा कहे हुए वाक्योंमें शँका न रहना निशंकित अंग है।

(८९) **निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपवृंहण, स्थितिकरण व वात्सल्य**

अंगका निर्देशन—नि:कांक्षित अंग—तीनों लोकके प्रसंग लेकर उपभोगकी आकांक्षा दूर कर देना, मुझे इस लोकमें न कुछ चाहिए न परलोकमें कुछ चाहिए, समग्र आकांक्षावोंको दूर कर देना और खोटे पात्रमें भी आकांक्षा न रखना जैसे कि अनेक लोग कुगुरुके प्रति आकर्षित रहते हैं और कुछ आशा भी रखते हैं, उन्हें मोक्ष मार्गका कुछ प्रयोजन नहीं, यदि किसीके मोक्ष मार्ग का प्रयोजन होवे तो वे विषयोंकी वाञ्छा कैसे करेंगे ? तो विषय भोगोंकी आकांक्षा दूर होना या कुदृष्टि कुजन्म वाले जीवोंकी आकांक्षा होना। निर्विचिकित्सा शरीर आदिक अशुचि पदार्थों के अशुचि स्वभावको जानकर यह शुचि है, पवित्र है, ऐसे मिथ्या संकल्प तो निर्विचिकित्सा हैं, पर उस संकल्पको हटा देना निर्विचिकित्सा है। अरहंत भगवानके प्रयोजनमें भी यह प्रयुक्त है। इसमें घोर कष्ट है। यदि इतनी बात इस आगममें न लिखी होती तो सब कुछ बिल्कुल सही बैठता। इस प्रकार अशुभ भावनाका परित्याग करना सो निर्विचिकित्सा अंग है। अमूढ़ दृष्टि अंग—खोटे नय, खोटे दर्शनके अनेक मार्ग हैं और उन अनेक प्रकारके मार्गोंमें तत्त्वकी तरफ लगने वाले उन सब मार्गोंमें युक्ति न चली, युक्तिसे वे ठीक न बैठे, इस प्रकार परोक्ष-चक्षुसे निश्चय करके मोहरहित होना अमूढ़दृष्टि है, याने कुनयमें, कुदृष्टिमें मोह न होना, उन्हें सही न मानना यह अमूढ़दृष्टि अंग है। उपबृंहण—उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक भावना के द्वारा आत्मामें, धर्ममें, स्वभावमें शीलमें वृद्धि करना उपबृंहण अंग है। स्थितिकरण—कषाय का उदय आदिक होने पर धर्मके ध्वंस करने वाले कारण कोई आ जायें उस समय आत्मा धर्मसे च्युत न होवे उसका नाम है स्थितिकरण। वात्सल्य—रागद्वेषपर विजय पाने वाले भगवंतोंने जो धर्मामृत बताया है उसमें नित्य अनुराग बना रहना वात्सल्य अंग है तथा उस धर्मामृतका पान करने वाले अन्य बन्धुवोंमें निश्चल प्रीति होना वात्सल्य है।

(९०) तीर्थंकरत्वास्रवहेतुवोंमें दर्शनविशुद्धिमें अंतिम प्रभावना अंगका निर्देशन— प्रभावना—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन रत्नत्रयोंके प्रभावसे आत्माका प्रकट करना प्रभावना अंग है। जैसे कहते हैं कि धर्मकी प्रभावना करना तो उसमें रत्नत्रयका प्रकाश फैले, लोगोंके चित्तमें रत्नत्रयकी महिमा आये तब वह प्रभावना कहलाता। अन्यथा केवल एक खर्च आडम्बर बनाकर लोगों पर यह छाप करना कि हमारा बड़ा प्रभाव है, बहुत बड़े धनिक हैं, इससे धर्मकी प्रभावनाका कुछ सम्बन्ध नहीं। धर्म तो रत्नत्रय है, सो रत्नत्रयकी बात दूसरोंके चित्तमें बैठे तो प्रभावना है। जैसे लोगोंको समझाया जाय कि आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी सत्ता रखता है। एकका दूसरा कुछ नहीं है, कि फिर ममताका कोई अवकाश ही नहीं फिर आत्माका जैसा सहजस्वरूप है वह ज्ञानमें उतरे ऐसा उपाय बने तो वह प्रभावना है। अपना खुद विशिष्ट चारित्रपालन

करके संतुष्ट रहे जिसे देखकर अन्य लोगोंके चारित्रके प्रति भावना जगे तो वह प्रभावना अंग है। ऐसे ८ अंग सहित सम्यग्दर्शन होना, पर ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर जीवोंके कल्याण की भावना होना दर्शनविशुद्धि भावना है।

(६१) **तीर्थंकरत्वास्रवहेतुमें द्वितीय तृतीय चतुर्थ भावनाका निर्देश**—तीर्थंकर प्रकृति के आश्रवके कारणभूत सोलह भावनाओंमें द्वितीय भावना है विनयसम्पन्नता। सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र आदिकमें मोक्षके साधन हैं और उनके साधनभूत गुरु आदिकमें अपनी योग्य वृत्तिसे सत्कार करना; कषायको हटाना विनयसम्पन्नता कहलाती है। विनयके बिना पात्रता नहीं आती, लौकिक कार्योंके सीखनेमें भी जिस गुरुसे सीखे उसके प्रति नम्रता विनयभाव होता है तो वह विद्या सुगमतासे आ जाती है। फिर यह तो मोक्षमार्गकी बात है। आत्मामें मानकषायका अंश न हो तब ही पात्रता जगती है और जब तक काय, वचन, मनकी प्रवृत्ति है तब तक नम्रताका होना यह सिद्ध करता है कि इसने मान कषायपर विजय किया है। विनयसे आत्मानुभवकी पात्रता निर्विघ्न चारित्रको निभानेकी पात्रता होती है। तीसरी भावना है शीलव्रतेस्वनतिचार—चारित्रके भेद हैं शील और व्रत। व्रत तो अहिंसा आदिक ५ बताये गए हैं और व्रतोंके पालन करनेमें सहायक शील है। जैसे क्रोधका त्याग करना, मानका त्याग करना। तो ऐसे शील और व्रतोंमें निर्दोष प्रवृत्ति रहना, मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति शुद्ध रहना, शीलव्रतेस्वनतिचार कहलाता है। चौथी भावना है अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग। अभीक्ष्णका अर्थ है निरन्तर। ज्ञानोपयोगका अर्थ है ज्ञानमें उपयोग रहना। ज्ञानकी भावनामें निरन्तर युक्त रहना सो ज्ञानोपयोग है। ज्ञानके ५ भेद बताये गए हैं—१-मतिज्ञान, २-श्रुतज्ञान, ३- अवधिज्ञान, ४- मनःपर्ययज्ञान और ५- केवलज्ञान। इन ज्ञानोंसे ही जीवादिक पदार्थोंका निर्णय होता है, आत्मतत्त्वका निर्णय होता है। ज्ञानका फल है अज्ञानका हट जाना, यह जो साक्षात् फल है और परम्परा फल है हितकी प्राप्ति होना, अहितका परिहार करना, और जो न हित है न अहित है उन प्रवृत्तियोंसे उपेक्षा रहना और ज्ञानके परिणमनोंका आधार आश्रय सहज ज्ञानस्वरूप है सो इन परिणमनों द्वारा सहज ज्ञानस्वभावका आश्रय लेना यह है उत्तम ज्ञानमें उपयोग। फिर इसमें न ठहर सके तो तत्त्वनिर्णयमें उपयोग रखना यह भी ज्ञानोपयोग है। निरन्तर ज्ञानमें उपयोग रखनेको अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग कहते हैं।

(६२) **तीर्थंकरत्वास्रवहेतुमें संवेग व शक्तितस्त्याग भावना**—तीर्थंकर प्रकृतिकी १६ भावनाओंमें पांचवीं भावना है सम्वेग। संसारसे भीरुता करना, डरना, हटना सो सम्वेग भावना है। संसारमें सर्वत्र कष्ट ही कष्ट है, शारीरिक कष्ट है, मानसिक कष्ट है। जहाँ बहुत

विकल्प आरम्भ रहा करते हैं, कहीं इष्टका वियोग हो, कहीं अनिष्टका संयोग हो इष्टका लाभ नहीं हो रहा आदिक नाना प्रकारकी स्थितियोंसे संसारका दुःख उत्पन्न होता है। वह अति भयानक है, कष्टरूप है, उससे नित्य भीरुता होना सम्वेग भावना है। त्याग भावना — दूसरों की शान्तिके लिए त्याग करना त्याग भावना है। जैसे पात्रके लिए आहार दिया तो पात्रको आहार देना उस पात्रके लिए संतोषका कारण रहा, वह अपनी ज्ञानसाधनामें जुटकर संतुष्ट रहता है। पात्रके लिए अभयदान दिया तो उस भवकी विपत्तियोंको मानो हटा दिया। पात्रके लिए सम्यग्ज्ञान दिया तो वह अनेक भवोंके कोटाकोटि दुःखोंको हटा देनेका कारण बनता है। दानोंमें प्रधान ज्ञानदान है। यदि किसी आत्माको अपने स्वरूपका भान होता है और उस स्वरूपमें रमण करनेका यत्न बनता है तो इसके द्वारा तो अनन्तकाल तकके लिए, हमेशाके लिए संसारसंकट समाप्त हो गए। तो यह तीन प्रकारका यथाविधि दिया गया दान त्याग कहलाता है।

(६३) तीर्थंकरत्वास्रवहेतुमें शक्तितस्तप भावना—तपभावना—अपनी शक्तिको न छिपाकर मार्गका विरोध न कर कायक्लेश करना तप है। तपमें कायक्लेश तो है, पर राग-द्वेष उत्पन्न करके या समता परिणाम बिगाड़कर संक्लेश या दुःख मानकर कायक्लेश होना तप नहीं कहलाता। जो मार्गसे अविरुद्ध हो ऐसा ही कायक्लेश तप कहलाता है, और इस दृष्टिसे देखा जाय तो कायक्लेश नाम दूसरे लोगोंके देखनेमें पीड़ा, खुद क्लेश नहीं करता सो तपश्चरण अंतरङ्ग बहिरङ्ग दोनों प्रकारके होते हैं। उन तपश्चरणोंमें अपनी शक्ति न छिपाकर लगना तप कहलाता है। तपश्चरणकी भावना रखने वाला साधक जानता है कि यह शरीर तो दुःखका कारण है, विनाशीक है, अपवित्र है, इस शरीरका मनमाना भोग विधिसे पोषण करना युक्त नहीं है। आखिर यह शरीर छूटेगा ही और भिन्न है, इसपर उपयोग देने से कष्ट ही है। इस शरीरको भोगोंमें रमाकर इसका पोषण करना यह युक्त नहीं है। तो ऐसा यह शरीर अशुचि है, उपेक्षाके योग्य है, फिर भी यह मनुष्यभव प्राप्त होना बड़ा कठिन है, इसमें श्रेष्ठ मन मिला है, यहाँ रत्नत्रयगुणका संचय कर लें तो अनंतकालके लिए हम संसारसे पार हो सकते हैं और उन गुण रत्नोंका संचय कर सकें इसके लिए यह जरूरी है कि यह भव बना रहे कुछ समय तो धर्मसाधना कर सकेंगे और यह भव बना रहे इसके लिए शरीरका कुछ पोषण आवश्यक है। सो जैसे किसी भृत्यसे काम करानेके लिए उसका पोषण किया जाता है ऐसे ही इस शरीरसे काम करानेके लिए इस शरीरका भी उपयोग होना उचित है। जैसे आत्माकी भावना बढ़े उस प्रकार इस शरीरसे तपश्चरण आदिकका काम निकलता है, ऐसा जानने वाला साधक कायक्लेशमें रंच भी क्लेश नहीं मानता और मार्गके अविरुद्ध अपनी शक्तिको न छिपाकर तपश्चरण करता है।

(९४) तीर्थंकरत्वास्रवहेतुमें ८,९,१०,११, १२ व १३वीं भावनाका निर्देशन—साधुसमाधि—अनेक व्रत शीलोंसे समृद्ध बढ़े हुये मुनिगणोंके तपमें कोई विघ्न उपस्थित हो तो उन विघ्नोंको दूर करना साधुसमाधि कहलाती है। जैसे भण्डारमें आग लग जाय तो प्रयत्न पूर्वक उस अग्निको शान्त किया जाता है ताकि भण्डारमें रहने वाले रत्न बच जायें, ऐसे ही मुनिराज व्रत शीलोंके भण्डार वहाँ कोई विघ्न आ जाय, उन विघ्नोंका निवारण करना साधुसमाधि है। वैयावृत्ति—गुणी जनोंपर, साधु संतोंपर कोई कष्ट आये, रोग आये उसको निर्दोष विधिसे हटा देना, उनकी सेवा करना यह वैयावृत्ति है। वैयावृत्तिसे उपकृत साधु अपने गुणकी उपासनामें जुट जाते हैं इसलिए यह वैयावृत्त मोक्षमार्गमें सहायक है। अर्हंदभक्ति केवलज्ञानी, अनन्त चतुष्टय सम्पन्न निर्दोष परमात्मा अरहंत कहलाते हैं। अरहंत भगवानके गुणविकासका स्मरण करना, उनके प्रति अनुरक्त होना, उनकी भक्ति करना अर्हद्भक्ति कहलाती है। आचार्यभक्ति—साधुजनोंको निर्विघ्नतया मोक्षमार्गमें प्रवर्तनके सहायक आचार्य महाराज, जिनको बताया है कि ये संसारसे निस्तारक है उनके गुणोंमें प्रीति होना, उनके रत्नत्रय गुणोंका स्मरण होना, उनकी आज्ञानुसार चलना यह आचार्यभक्ति कहलाती है। बहुश्रुतभक्ति—जिन साधुसंतोंको बहुत ज्ञान है, ऐसे विपुल श्रुतज्ञानी साधुसंतोंके ज्ञानचारित्रकी भक्ति करना, उनकी आज्ञामें रहना, उनकी सेवाका भाव रखना बहुश्रुतभक्ति कहलाती है। प्रवचनभक्ति—प्रवचन आगमको कहते हैं। प्रवचन श्रुतदेवता है, उसके प्रसादसे मोक्षमार्गमें गमन करना सरल होता है, ऐसे परम उपकारी प्रवचनकी भक्ति करना प्रवचनभक्ति है।

(९५) तीर्थंकरत्वास्रवहेतुमें आवश्यकापरिहाणि भावनाका निर्देशन—आवश्यकापरिहाणि—साधुजनोंके ६ आवश्यक होते हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये ६ आवश्यक क्रियावोंका यथासमय बिना नागा स्वाभाविक क्रमसे करते रहना आवश्यकापरिहाणि है। इसमें दो शब्द हैं—आवश्यक और अपरिहाणि। आवश्यक कार्योंमें कमी न करना आवश्यकापरिहाणि है। प्रथम आवश्यक है सामायिक, समस्त पाप योगोंका त्याग करना, चित्तको एकाग्ररूपसे ज्ञानमें लेना, आत्माका जो सहज ज्ञानस्वरूप है, उस सहज ज्ञानस्वरूपकी आराधना रखना सो सामायिक नामका गुण है। रागद्वेष न होकर समता परिणाम रहना इस स्थितिका नाम सामायिक है, चतुर्विंशतिस्तव—चौबीसों तीर्थंकरोंका गुणकीर्तन करना, स्तवन करना चतुर्विंशतिस्तव है। वंदना—मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक खड्गासन या पद्मासनसे अपने ध्येयजनोंकी वंदना करना, जो वंदना चार बार सिरसे नमस्कार करना और १२ अंजुलीमें आवर्त करना इन क्रियावों पूर्वक वंदना करनेको वंदना कहते हैं। किये हुए दोषोंकी निवृत्तिका नाम प्रतिक्रमण है। आगामी कालमें दोष न

होवें इसके लिए सावधानी रखना प्रत्याख्यान है। शरीरसे ममत्व त्यागना कायोत्सर्ग है और शरीरसे पूर्ण उपेक्षा रखना, कुछसे कुछ क्रियायें ही न करना यह अभ्यासानुसार कुछ समय तक किया जाता है। ये सब कायोत्सर्ग कहलाते हैं।

(९६) **तीर्थंकरत्वास्रवहेतुमें मार्गप्रभावना व प्रवचनवत्सलत्व भावनाका निर्देशन**—मार्गप्रभावना—संसारसे छुटकारेका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। उस मार्ग के ज्ञानद्वारा, चारित्रद्वारा, अन्य उपाय द्वारा प्रभावना करना मार्ग प्रभावना है। जिस ज्ञान-सूर्यकी किरणोंसे अज्ञानसमर्थक मतोंका प्रकाश दूर हो जाता है, यह मार्ग प्रभावना है। लोगों के यह निर्णय बन जाय कि वास्तविक मार्ग तो सहज आत्मस्वरूपका श्रद्धान् ज्ञान और सम्यक् आचरण है, तो यह है वास्तविक मार्गप्रभावना। तपश्चरण आदिकसे भी मार्गप्रभावना बनती है, ऐसा महान उपवास जो बड़े-बड़े धीरोंको आसनको भी कँपा देता है ऐसे तपश्चरणों से मार्गकी प्रभावना होती है। जो लोग देखते जानते हैं उनके भी भावोंमें अतिशयता आती है, और यों तपश्चरणोंसे भी मार्गप्रभावना होती है। मार्गप्रभावनाका एक कारण जिनपूजा है। जिनेन्द्र भगवानका गुणानुवाद पूजन विधान आदिक द्वारा सद्धर्मका प्रकाश करना मार्ग प्रभावना है। प्रवचनवत्सलत्व—प्रवचन नाम साधर्मीजनोंका है। साधर्मी जनोंमें स्नेह होना प्रवचनवत्सलता है। जैसे गाय अपने बछड़ेसे प्रकृत्या प्रीति करती है, उस गायको बछड़ेसे कोई आजीविकाकी आशा नहीं है किन्तु प्रकृत्या स्नेह होता है ऐसे ही साधर्मी जनोंसे कोई छल कपटकी आशा न रखककर स्वाभाविक रीतिसे स्नेह करना, धर्मात्माजनोंको देखकर स्नेहसे भर जाना यह प्रवचनवत्सलत्व है। इस प्रकार ये १६ कारण भावनायें तीर्थंकर प्रकृतिके आश्रवका कारण होती हैं। यहाँ तक नामकर्मके आश्रवके कारण कहे गए हैं। अब क्रम प्राप्त है गोत्रकर्म। गोत्रकर्म दो प्रकारका होता है— (१) नीचगोत्र और (२) उच्चगोत्र, जिनमें अब नीच गोत्रके आश्रवके कारण कहते हैं।

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥६-२५॥

(९७) **नीचैर्गोत्र कर्मके आस्रवोंके मुख्य कारण**—दूसरोंकी निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरेमें गुण विद्यमान हैं तो भी उनको ढक देना याने वे प्रकाशमें न आ सकें ऐसा प्रयत्न करना और अपनेमें गुण मौजूद न भी हों तो भी उन गुणोंका ढिंढोरा पीटना यह नीच गोत्रके आश्रवका कारण है। निन्दामें दूसरेके दोष प्रकट करने की इच्छा रहती है, रुचि रहती है, दूसरेको दोष प्रकट करनेका प्रयत्न चलता है। चाहे वे दोष वास्तवमें हों अथवा न हों, उन दोषोंको प्रकट करनेका प्रयत्न करना निन्दा कहलाती है। कल्याणार्थी पुरुषोंको परनिन्दा करनेकी वृत्ति नहीं जगती। परनिन्दासे आत्माका कोई कोई लाभ

नहीं है। कोई ऐसा सोचे कि दूसरेमें जो दोष हैं उनको प्रकट करनेमें क्यों बुराई बताते हैं ? दोष न हों और उन दोषोंको प्रकट करे, इसीमें तो बुराई मानना चाहिए ? तो उनका यह सोचना कल्याणमार्गके विरुद्ध है। स्वयं दोषोंसे भरा हुआ है जिससे कि संसारमें जन्म मरण हो रहा है, स्वयंको जन्म-मरणके दुःखोंसे बचाना आवश्यक है, अपने दोषोंका निवारण करना आवश्यक है। दूसरेके दोषोंपर दृष्टिपात करके अपना उपयोग खराब करना क्या आवश्यक है ? तो दूसरेके दोष चाहे तथ्यभूत हों चाहे अतथ्यभूत हों उनका प्रकाशन करना परनिन्दा है। आत्मप्रशंसा अपनेमें गुण हों तो, न हों तो उन गुणोंका प्रकाशन करना प्रशंसा है या अपने गुणोंको प्रकट करानेका अभिप्राय रखना आत्मप्रशंसा है। आत्मप्रशंसाकी वृत्ति इस आत्माके पतनका कारण है। इस संसारमें जहाँ कि कर्मोंसे बंधे हैं, जन्म-मरणके संकटोंसे फंसे हैं उसमें अपनेको मोजसे रखना, प्रशंसा करना, कराना, यह क्या आवश्यक है ? यह तो और पतनका कारण है। सो अपनेमें कोई भी गुण हों तो भी उनके प्रकाशनका अभिप्राय न रखना, जो पुरुष आत्मप्रशंसाका आशय रखते हैं उनके नीच गोत्रका आश्रव होता है। छादन नाम ढकनेका है, ऐसे प्रतिबंधक कारण जुटाये जिससे वस्तु प्रकट न हो सके इसका नाम छादन है। सो दूसरेके गुण उसमें मौजूद भी हैं तो भी उनको ढक देना। ऐसी बात मिलाना कि वह गुण प्रकट न हो सके, ऐसे परगुण छादनकी भावनासे नीचगोत्रका आश्रव होता है। उद्भावना—अपनेमें गुण नहीं हैं तो भी उनका उद्भावन करना, ढिंढोरा पीटना यह नीच गोत्र कर्मका आश्रव कराता है। नीच गोत्रका आश्रव होने पर जब उसका उदयकाल आता है तो इस जीवको नीच कुलमें जन्म लेना पड़ता है और वहाँ जीवनभर संताप सहता है। गोत्र शब्दका अर्थ प्रसिद्ध है कुल। यह गोत्र शब्द बना है गूंज धातुसे जिसकी निरुक्ति है—गूज्यते शब्दयते इति गोत्रं, जो शब्द व्यवहारमें आये उसे गोत्र कहते हैं। यह गोत्रका शब्दार्थ है, पर भावार्थ यह है कि जिससे आत्मा नीच या उच्च व्यवहारमें आये सो गोत्र है। यहाँ नीच गोत्रका प्रकरण है। आत्मा नीच व्यवहारमें आये सो नीच गोत्रका प्रकरण है। आत्मा नीच व्यवहारमें आये सो नीच गोत्र है। इस सूत्रमें नीच गोत्रके आश्रवके कारण संक्षेपसे बताया, अब उन कारणोंका विस्तारसे विचार करना है तो इस प्रकारसे विचार कीजिए।

(६८) **नीचैर्गोत्रकर्मके आस्रवके कारणोंका प्रपञ्च**—इस सूत्रमें च शब्द दिया है तथा बहुत पहले आश्रव वाले सूत्रसे इति शब्दकी भी अनुवृत्ति चली आ रही आ रही है जिससे अन्य अनेक कारण भी ग्रहण कर लिए जाते हैं। और कारण क्या है जिन भावोंसे होकर नीचगोत्रका आश्रव होता है, इसीको कहते हैं मद करना, जाति उत्तम मिली हो। जो लोक-

पूज्य हैं उस जातिका घमंड करना कि उत्तम जातिका हैं, कुलका घमंड करना। पिताके गोत्र को कुल कहते हैं और मामाके कुलको जाति कहते हैं। मैं उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ हूं ऐसे कुलका लक्ष्य करके अपने स्वभावको भूलकर अहंकार आ जाना यह कुल मद है। शरीरके बल को देखकर घमंड आना, मैं बहुत बलिष्ट हूं, शरीरके रूपको देखकर घमंड करना कि मैं बहुत सुन्दर हूं। जो ज्ञान पाया है उसका अहंकार जगना। यदि इस लोकमें आज्ञा चलती है तो उस आज्ञाका घमंड आ जाना, कुछ प्रभाव और ऐश्वर्य यदि मिला है तो उसका अहंकार होता है, कुछ तपश्चरण किया जाता हो तो उसका मद होना, इन मदोंकी स्थितिमें आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है और पर विकल्पोंमें लग जाता है और उन विकल्पोंमें भी अपने आपकी प्रशंसा सम्बंधित विकल्प जगने लगना सो ये सब मद नीच गोत्रका आश्रव कराते हैं। परकी अवज्ञा होना, ऐसे वचन बोलना जिससे दूसरोंका अपमान होता हो सो परकी अवज्ञा है। दूसरेकी हंसी करना, अपने आपको उच्च कल्पना करनेके कारण दूसरे लोग इसकी दृष्टिमें नीच प्रतीत होते हैं और इस कल्पनाके कारण दूसरेकी हँसी किया करते हैं। ये सब नीच गोत्रका आश्रव कराते हैं। निन्दाका स्वभाव हो जाना ऐसी ही प्रकृति बन जाय कि किसी दूसरेकी निन्दा ही किया करे, धार्मिक जनोंका परिहास करना, धर्मात्माजन रात्रिको नहीं खाते, शुद्ध भोजन करते, पूजा, ध्यान भक्तिमें लगते तो उनकी इन क्रियावोंको मूर्खों जैसी क्रियावोंका रूप देखते हुए परिहास करने लगना, ये सब भाव नीच गोत्र का आश्रव कराते हैं। अपने आत्माका उत्कर्ष जताना, और दूसरेके यशका लोप करना, अपनी कीर्तिके अर्जनके लिए मिथ्या उपाय बनाना और झूठी कीर्ति फैलाना, गुरुजनोंका परिहास करना, ये सब परिणाम नीच गोत्रका आश्रव करते हैं। नीच गोत्रके आश्रव करानेके भाव भी नीच ही होते हैं। उन भावोंमें गुणोंके ख्यालका स्थान नहीं रहता। गुरु जनोंके दोषकी ही प्रसिद्धि करते रहना, गुरु जनोंकी भर्त्सना करना उनके सामने असभ्यतासे पेश आना, जोरसे शब्द बोलना ये सब नीच गोत्रके आश्रवके कारण हैं। गुणी जनोंके गुणोंका आसादन करना, गुणोंको दोषके रूपमें प्रकट करना, बड़े पुरुषोंको देखकर विनय न करना प्रत्युत बैठे ही रहना, बुरी दृष्टिसे निरखना, उनके विनयके प्रतिकूल दूसरे लोगोंको इतना उत्साह देना ये सब खोटे भाव नीच गोत्रका आश्रव कराते हैं। यदि कोई पुरुष महापुरुषोंको देखकर उनके गुणोंके प्रति हर्ष नहीं प्रकट कर पाता, उनके गुणोंके वर्णनमें दो शब्द नहीं बोल सकता, उन्हें देखकर खड़ा होना, उनके जाते समय कुछ दूर तक पहुंचाना आदिक न कर सके तो ऐसे बड़े अहंकार भावके कारण और अपने आपको महान् कल्पना करनेके कारण उसके नीच गोत्रका आश्रव होता है। तीर्थंकर अरहंत देव भगवानपर आक्षेप करना, उनकी कथा सुनकर

किसी भी घटनाको उल्टे रूपमें पेश करना ये नीच गोत्रके आश्रव करानेके कारण हैं। शास्त्र आगम धर्मकी निन्दा करना ये सब नीच गोत्रके आश्रव कराते हैं गुरु जनोंको निरखकर उनके भेषपर हँसी करना, ये साधु लोग मलिन हैं, गंदे रहते हैं, ये नहाते भी नहीं हैं, आरोपों को लगाकर उपहास करना ये सब नीच गोत्रके आश्रव कराने वाले हैं। जिन जिन क्रियावों में दूसरेकी निंदा बसी हो और दूसरेकी प्रशंसा बसी हो वे वे सब क्रियायें नीच गोत्रके आश्रव के कारणभूत बनती हैं। नीच गोत्रका उदय होनेपर नीच कुलमें जन्म होता है और उस समय दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें मैं नीच हूं ऐसा ख्याल कर करके भीतर छूटता रहता है, संक्लेश करता है, जिसके फलमें संसारभ्रमण और भी लम्बा होता चला जाता है। जिसको मोक्षकी रुचि हो, संसारसंकटोंसे छुटकारा पानेकी अभिलाषा हो उसे नीच गोत्रके आश्रवके कारणभूत प्रसंगोंमें न लगना चाहिए। अब नीच गोत्रके आश्रवका कारण कहकर उच्च गोत्रके आश्रवकी विधि कहते हैं—

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥६-२६॥

(६९) **उच्चैर्गोत्रकर्मके आश्रवके मुख्य कारण**—उससे उल्टा तथा विनयसे नम्र होना एवं घमंड न करना ये उच्च गोत्रके आश्रवके कारणभूत हैं। तद्विपर्ययः, इस प्रथम पदमें तत् शब्दसे अर्थ लिया नीच गोत्र जिसका कि वर्णन इससे पहले सूत्रमें आ गया है। ग्रहण हुआ याने नीच गोत्रके आश्रवके कारणसे उल्टा। नीच गोत्रके आश्रव बताये गए थे—पर निन्दा, आत्मप्रशंसा, तो यहाँ लेना है परप्रशंसा, आत्मनिन्दा। दूसरे पुरुषोंके गुणोंकी प्रशंसा करनेसे उच्च गोत्रका आश्रव होता है, जिसके उदयमें वह उच्च गोत्रमें उत्पन्न होगा। अपनी निन्दा करनेसे अर्थात् अपनेमें जो त्रुटि है, दोष है, विषय कषाय सम्बंधी वृत्ति है, और और भी जो व्यवहारके योग्य हैं, ऐसे हीन आचारको निरखकर अपनी निन्दा करना यह मेरे को उचित नहीं है। स्वयं भी सोचना और दूसरे लोगोंको भी बताना कि मेरेमें यह दोष लगा है आदिक ये सब आत्मनिन्दा उच्च गोत्रके आश्रवका कारण है। नीच गोत्रके आश्रवमें बताया था कि दूसरेके गुण हों या न हों उनको ढांक देना तथा अपनेमें गुण हों या न हों उनको प्रकट करना, ढिढोरा पीटना, तो यहाँ उच्च गोत्रके आश्रवमें कारण जानना, दूसरेके गुण हों या न हों उनको प्रकट करना और आत्माके गुण हों या न हों उनको ढाँकना अथवा यहाँ सत् और असत्को भी क्रमसे लगाना जिससे अर्थ निकलता है कि दूसरेके सद्भूत गुणोंको प्रकट करना और अपने असद्भूत गुणोंको ढाकना, तात्पर्य यह है कि दूसरेके गुणोंको बखानना उच्च गोत्र के आश्रवका कारण है और अपने गुणोंको ढाँकना, प्रकट न करना, न कहना उच्च गोत्रके आश्रवका कारण है। इसके अतिरिक्त दो कारण और कहे गए हैं—(१) नीचैर्वृत्ति, (२) अनुत्सेक। जो पुरुष गुणोंमें उत्कृष्ट हैं उनके प्रति विनयसे झुक जाना, अपनेको नम्र कर देना

सो नीचैर्वृत्ति है। दूसरेके गुणोंको ध्यानमें लेनेसे ज्ञेयाकार भी गुण रहा और गुण रुचि होने से स्वयंके गुणमें भी विकासका प्रारम्भ होता है। गुणी पुरुषोंके प्रति नम्र होनेसे आत्माके ज्ञानस्वभावका बाधक अहंकार दूर हो जाता है, इस कारण नम्रतामें मोक्षमार्ग भी मिलता है और संसारमें जब तक रहना पड़ता है तब तक उसके उच्च गोत्रका आश्रव होता है। अनुत्सेक– अहंकार न होना सो अनुत्सेक है। ज्ञानादिकमें उत्कृष्ट होनेपर भी उस ज्ञानादिकका लक्ष्य कर मोही जनोंको मद होता है, वह मद इसके नहीं है, यही है अनुत्सेक। ये सब परिणाम उच्च गोत्रके आश्रवके कारणभूत हैं।

(१००) **उच्चैर्गोत्रकर्मके आस्रवोंके कारणोंपर अनतिविस्तृतविवरण**—सूत्रमें जो परिणाम बताये गए हैं उनके विस्तारमें इस प्रकार समझना कि जाति, कुल, बल, रूप, ज्ञान, ऐश्वर्य, तप आदिककी विशेषता होनेपर भी उनका अहंकार न होवे तो वे सब शुद्ध परिणाम उच्च गोत्रके आश्रवके कारण हैं। दूसरेका तिरस्कार न करना उच्च गोत्रका आश्रव कराता है, दूसरेका तिरस्कार उससे ही सम्भव नहीं है जो अपने आत्मस्वरूपको जानता है और सब जीवोंमें इस ही स्वरूपको निरखता है। सभी प्राणी स्वरूपतः एक समान हैं ऐसा बोध होनेपर दूसरेके तिरस्कारकी भावना कैसे हो सकती? ऐसा उच्च परिणाम उच्च गोत्रके आश्रवके कारणभूत है। अपनेमें उद्धतता न होना अर्थात् उद्धतपन उजड्डताका अभाव होना, दूसरेसे ईर्ष्या न करना, दूसरेका उपहास न करना, दूसरेका अपयश न करना, यह उच्च गोत्रका आश्रव कराता है। साधर्मी व्यक्तियोंका सम्मान करना, गुणी पुरुषोंको निरखकर खड़े होना, अंजुलि चढ़ाना, नमस्कार करना ऐसा यह नम्र परिणाम उच्च गोत्रका आश्रव कराता है। निरहङ्कार नम्र वृत्ति होना, सरलता होना, सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना रखना, अपनेमें सदैव नम्रता रहना, उच्च गोत्रका आश्रव कराता है। राखमें ढकी हुई अग्नि जैसे अंदर ही पड़ी है, उसका प्रकाश प्रताप अंदर ही है, बाहरमें उसका ढिंढोरा नहीं पिट पाता, ऐसे ही अपनेमें कोई गुण हों तो वे अपनेमें ही बने रहें, उनको बाहरमें ढिंढोरा न पीटें, ऐसा जो नम्र परिणाम है वह उच्च गोत्रका आश्रव कराता है, धर्मके जितने स्थान हैं उनमें आदर बुद्धि न होना, जैसे मंदिर जी, उसकी सफाई, रक्षा, सजावटमें प्रीति होना यह धर्मगुरु और धर्मदेवके प्रति बहुमानका सूचक है और धर्म साधनकी रक्षा है। धर्मके स्थान मुख्य रूपसे धर्मज्ञान देने वाले विद्यालय, पाठशालायें हैं, उनके करनेका भाव, विद्यार्थियोंके ज्ञानके साधन जुटानेके भाव ये सब परिणाम उच्च गोत्रका आश्रव कराते हैं। धर्मके साधनभूत अन्य समारोह आदिक भी होते हैं, उनमें भी आदर रखना और प्रभु जिनेन्द्रके मार्गकी प्रभावना हो रही है, ऐसा प्रसन्नताका भाव रखना, ये सब ये सब उच्च गोत्रके आश्रवके कारणभूत है।

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥६—२७॥

(१०१) दानादिमें विघ्नकरणकी अन्तरायास्रवहेतुता—विघ्न करना अंतरायके आश्रवका कारण है। किनमें विघ्न करना? दान आदिक जो शुभ क्रियायें हैं उनमें विघ्न करना अंतरायका आश्रव कराता है। दान आदिकका निर्देश पहले सूत्रमें कर दिया है। वे ५ होते हैं १— दान २— लाभ ३—भोग ४—उपभोग और ५—वीर्य। इनका हनन करना विघ्न कहलाता है। विघ्न शब्दमें वि तो उपसर्ग है और हन् धातुसे घन् प्रत्यय होकर विघ्न शब्द बना है। तो विघ्न कहलाता है किसी कार्यका प्रतिघात कर देना, रोक देना, कार्यका न होने देना सो विघ्न अंतराय कर्मका आश्रय कराता है। इस सूत्रमें मूल रूपसे तो ५ बातें कही गई हैं १—दानमें विघ्न करना—कोई दान देता हो उसको रोक देना, चाहे संकेतसे रोके चाहे किन्हीं वचनोंसे रोके चाहे कायचेष्टासे रोके इससे दानान्तरायका आश्रव होता है। जिसके उदयमें इसे खुद लाभ न होगा और इसके भी दानका भाव न हो सकेगा। लाभान्तराय—किसीके लाभमें अन्तराय डालना, कुछ वस्तु किसीको प्राप्त होती हो उद्यमसे या अन्य प्रकारसे, उसमें विघ्न डाल देना यह लाभान्तरायका आस्रव कराता है। भोगान्तराय भोगकी वस्तुवें, विषयोंके साधनभूत जो पदार्थ एक बार भोगनेमें आयें ऐसे भोजन आदिक उनके भोगनेमें विघ्न डालना भोगान्तरायका आश्रव कराता है। उपभोगान्तराय—उपभोगकी वस्तुवोंमें विघ्न डालना। उपभोग वाले पदार्थ वे कहलाते हैं जो बारबार भोगनेमें आयें। जैसे कुर्ता कमीज, बर्तन आदिक जो रोज-रोज भोगने में आते हैं। तो ऐसे उपभोग वाले पदार्थोंमें विघ्न करना उपभोगान्तराय है। वीर्यान्तराय वीर्य अर्थात् शक्ति, उसके प्रकाशनमें प्रकट करनेमें विघ्न डालना, किसीकी शक्तिके साधनोंमें विघ्न डालना वीर्यान्तरायकर्मका आश्रव कराता है। इस प्रकार ये मूल रूपसे ५ कारण बताये गए हैं। अब इनके विस्तारमें अन्य कारणोंका कथन करते हैं।

(१०२) ज्ञानप्रतिषेध आदि कुछ परिणमनोंकी अन्तरायास्रवहेतुता—किसीके ज्ञान का प्रतिषेध कर देना। कोई ज्ञानकी चर्चा कर रहा हो, दूसरे ज्ञानीके ज्ञानकी प्रशंसा कर रहा हो अथवा कोई ज्ञान दे रहा हो तो वहाँ उस ज्ञानका निषेध कर देना, उसकी अनावश्यकता बताकर अथवा ज्ञानके दोष बताकर किसी भी उपायसे ज्ञानका निषेध कर देना अंतराय कर्मका आश्रव कराता है। किसीके सत्कारका विनाश कर देना, कोई अभ्यागत आया है या विद्वान साधु संत पुरुष आया है और उसका लोग विशेष सत्कार करनेका उद्यम कर रहे हैं तो उसमें विघ्न डालना उसे न होने देना, ऐसे वचन बोलना कि जिससे लोगोंको उससे उपेक्षा हो जाय तो यह सत्कारोपघात कहलाता है। इससे अंतरायकर्मका

आश्रव होता है। कोई दान देता हो उसके दानमें विघ्न करना, अनावश्यक है या यह पात्र नहीं है यह व्यर्थ जायगा या इतनी गुञ्जाइस कहाँ है, कैसा ही समझकर उस दानमे विघ्न करना, किसीके लाभमें विघ्न करना, किसी उद्यमसे कुछ प्राप्ति होने वाली हो तो उसमें अड़चन लगा देना, भोगोपभोग वीर्यमें विघ्न डालना, स्नानमें अंतराय करना, स्नान भी तो एक भोग वाली बात है जिसमें लोग प्रसन्न रहा करते हैं और जिससे लोग सुख अनुभव करते हैं, उनके स्नानमें बाधा डालना जैसे पानी लुढ़का दे या प्रतिकूल बात बोल दे। अनुलेपनमें विघ्न करना, जैसे शरीरमें कोई मालिसकी जाती हो, कोई गंध वाली चीजका लेप किया जाता हो तो ऐसी क्रियावोंमें लोग सुख साताका अनुभव करते हैं। उनके ऐसा शौक होता है, पर कोई उनकी इस बातमें विघ्न डाल दे तो वह अन्तरायके आश्रवके कारण होता है, ऐसे ही गंध माल्य भूषण वस्त्र आदिकमें विघ्न डालना, किसीके शयनमें (सोनेमें) विघ्न डालना सोने न देना, बीचमें ही जगा देना अथवा शयनका साधन मिटा देना ऐसे ही आसन का साधन मिटा देना, बैठनेको स्थान न देना ये सभी विघ्न अन्तराय कर्मका आश्रव कराते हैं।

(१०३) **भक्ष्यभोज्यविघ्नकरणादि कतिपय परिणमनोंकी अन्तरायास्रवहेतुता**—जो पदार्थ भक्ष्य हैं, भोज्य हैं, लेह्य हैं और पेय हैं उन पदार्थोंके भोगनेमें विघ्न डालना। भक्ष्य पदार्थ वे कहलाते हैं जिन पदार्थोंके खानेसे पेट भरे, रोज खाये जायें, जैसे दाल, रोटी, चावल आदिक। भोज्य पदार्थ वे कहलाते हैं कि जो रोज भरपेट तो नहीं खाये जा सकते, पर उन की रुचि होती है, स्वादिष्ट लगते हैं। कुछ भूख भी मिटती है जैसे लड्डू, पेड़ा बरफी आदिक, लेह्य पदार्थ वे कहलाते हैं जो चाटकर खाये जाते, जैसे चटनी और पेय पदार्थ वे कहलाते जो पिये जाते, जैसे ठंडाई, दूध, पानी आदिक। इन पदार्थोंका कोई भोग करता हो या भोग करने का उद्यम करता हो तो उसके भोगनेमें बाधा डालना, ये सब अंतराय कर्मके आश्रव कराते हैं। किसीका वैभव देखकर अथवा किसीकी समृद्धिको निरखकर उसमें विस्मय करना—कैसे मिला है, कैसे मिल गया है उसका आश्चर्य बनाना यह अन्तरायका आश्रव कराता है, क्योंकि इतना ज्ञान नहीं है कि ये सब बाहरी पदार्थ हैं, इनका आत्मासे क्या सम्बंध है? ये तो ऐसे ही दुनिया में पड़े रहते हैं। कुछ पुण्यका उदय है कि जिसे वह इष्ट समझता है उसका समागम हो जाता है, पर ये सब कलंकरूप हैं। उस पर क्या आश्चर्य करना? ऐसा ज्ञान नहीं है किन्तु खुद उस का लोभी है। और, दूसरोंको प्राप्त हो तो उसमें विस्मय है, और वह विस्मय भी अपने भीतर एक ऐसा न मिलना चाहिए था, इस भावको लिए हुए है। सो यह भी अन्तरायका आश्रव कराता है। द्रव्यका त्याग न करना—खुदके पास धन वैभवका खूब साधन है, पर दूसरोंके उपयोगके लिए उसका व्यय न कर सकना और केवल खुदके और अपने परिजनके लिए ही

यह द्रव्य है ऐसा निर्णय बनाये रखना, ऐसी कृपणता अंतरायका आश्रव कराती है। द्रव्यके उपयोगके समर्थनमें प्रमाद करना, कोई देता हो वह न सुहाये, कोई पदार्थका उपयोग करता हो तो उसका साधन बनानेमें प्रमाद बनाना देवतावोंके लिए जो निवेदित किया गया अर्थात् नैवेद्य चढ़ाया गया या जो नैवेद्यरूपसे नहीं, किन्तु व्यवस्थाके रूपसे रखा गया ऐसे द्रव्यको ग्रहण करना अर्थात् मंदिर, संस्था आदिकके द्रव्यको हड़प लेना यह सब अन्तरायकर्मका आश्रव कराता है। कोई निर्दोष उपकरण हों किन्तु मनके माफिक सजे धजे शौक शान वाले न हों तो उनका त्याग करना, दूसरेकी शक्तिको मिटाना, धर्ममें विच्छेद डालना ये सब अंतरायके आश्रवके कारण हैं।

(१०४) **तपस्विगुरुचैत्यपूजाव्याघात आदि परिणमनोंकी अन्तरायास्रवहेतुता**— कोई तपस्वी गुरु उत्तम चारित्र वाले हैं और उनका लोग पूजा सत्कार करते हैं तो वह न सुहाये और उनकी पूजामें बिघ्न डाले अथवा मंदिर आदिमें, मूर्ति चैत्यकी पूजामें विघ्न डाले, कोई पुरुष किसी दीक्षित, साधुको कोई द्रव्य दे रहा है या असमर्थ दीनको कोई द्रव्य दिया जा रहा है तो ऐसे दिए जाने वाले वस्त्र, पात्र आदिकमें विघ्न करना ये अन्तरायके आश्रवके कारण हैं। दूसरे पुरुषोंको रोक देना, किसी जगह बंद कर देना, किसी चोरको बाँधना, जो गुह्य अंग हैं उनका छेदन करना, कान, नाक, ओंठ आदिकका काट देना, किसी प्राणीका बध करना, ये सब अंतराय कर्मका आश्रव कराते हैं। इस सूत्रमें और इससे पहले वाले आश्रव प्रसंगके सूत्रोंमें जो अनेक कारणोंका ग्रहण किया गया है सो वह इति शब्दकी अनुवृत्तिसे किया गया है। सर्वप्रथम सातावेदनीयके आश्रवका कारण बतानेके लिए सूत्र कहा गया था—भूतव्रत्यनुकम्पादि, उसमें इति शब्द पड़ा है। जो कारण कहने थे वे कारण तो कह दिये और इसके बाद इति शब्द आया है, जैसे क्षमा, पवित्रता आदिक। सो उस इति शब्दका आगेके सब सूत्रोंमें प्रकाश आ रहा है और उस इति शब्द द्वारा वह सब ग्रहण किया जा रहा है। आश्रवका वर्णन करने वाले इस छठे अध्यायमें इस अंतिम प्रसंगमें आगे कर्मोंके आश्रवके कारण बताये हैं सो इन आश्रवकी विधियोंसे ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोंका आश्रव बंध होता है। जैसे कि कोई शराबी नशा लाने वाले मदिराको पीकर उसके नशेमें अनेक विकारोंको करता है अथवा कोई रोगी जिस अपथ्य आहारसे रोग बढ़ता है उसी अपथ्य आहारको बड़ी रुचिसे खा लेता है तो उसके वात, पित्त, कफ आदिक अनेक रोग विकार उत्पन्न होते हैं, ऐसे ही यह जीव आश्रव करने वाले इन उपायोंसे ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोंका आश्रव कराता है और नाना संस्कार विकारोंको प्राप्त होता है।

(१०५) **सूत्रोक्त आस्रवहेतुवाचक शब्दोंमें आस्रवहेतुत्वके हेतुकी झांकी**—यहाँ कोई

यह शंका करता है कि आश्रवके कारण तो बताये गए बहुत, पर उनके साथ हेतु नहीं बताया गया कि ऐसा करनेसे इन कर्मोंका आश्रव क्यों होता ? उसका कारण क्या है ? तो जब हेतु नहीं बताया गया तो इस आश्रवका नियम सिद्ध नहीं होता, पुष्टता नहीं आती कि ऐसा करनेसे अमुक पदार्थका आश्रव होता ही है । जो भी वर्णन हेतुपूर्वक होता है वही विद्वानोंके द्वारा ग्राह्य होता है । तो यहाँ हेतु न कहनेसे यह आश्रवका कथन प्रामाणिक कथन नहीं बन सकता । इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि कितने ही प्रकरण ऐसे होते हैं कि उनका हेतु उन शब्दोंके बोलनेसे ही सिद्ध हो जाता है । जैसे कहा कि किसीके ज्ञानसे ईर्ष्या करना, ज्ञानके साधनोंमें विघ्न डालना ज्ञानावरणका आश्रव कराता है तो उसके सुनते ही हेतु मनमें आ जाता है कि जब दूसरेके ज्ञानसे ईर्ष्या कर रहे तो इसको भी ज्ञान न मिले, ऐसे कर्मोंका आश्रव होगा ही । तो कितनी ही बातें ऐसी होती हैं कि जो एकदम सिद्ध हैं, जैसे दीपक घट पट आदिक पदार्थोंका प्रकाशक होता है । अब उसमें कोई हेतु पूछे कि यह दीपक किस कारणसे प्रकाश करता है तो भाई वह तो उसका स्वभाव है और अपने स्वभावमें व्यक्त हो रहा है, तो ऐसे ही शास्त्र भी जो पदार्थ जैसे हैं, सत् हैं, जिस तरह हैं, उस तरह बताया करते हैं, और फिर सभी वादी प्रतिवादी अपने यहाँ शास्त्रोंको पदार्थ प्रकट करने वाला मानते हैं, फिर यहाँ तो जो कुछ कहा गया है वह अतिशय ज्ञान वालेके द्वारा कहा गया है । मूलमें तो सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा गया है, फिर उनके उपदेशको ग्रहण कर गणधर आचार्य आदिकके द्वारा कहा गया है । तो जो शास्त्रोंमें वर्णन है वह ऐसा ही है जैसा कि कहा गया है । जितने भी अन्य प्रवादी हैं उन्होंने अपने अपने सिद्धान्तमें पदार्थकी व्यवस्था बनायी है । कोई पृथ्वी आदिक द्रव्यको मानते हैं, उनका स्वभाव कहते हैं, कठिन स्वभाव है, जलका द्रव स्वभाव है, अग्निका उष्णता स्वभाव है, वायुका चलना स्वभाव है, यों वे वस्तुके स्वभावको प्रकट करते हैं । अब वहाँ कोई कहे कि हेतु बताना चाहिए कि वायुके चलनेका स्वभाव क्यों है ? जो बात जैसी है उसका वर्णन किया जा रहा है तो ऐसा अन्य सभी सिद्धान्तोंमें पदार्थोंके स्वरूपका वर्णन किया है, और फिर जैनशासनमें तो सर्वज्ञदेवके द्वारा प्रत्यक्ष जाने गए गणधर आदिक प्रभुवोंके द्वारा भी एक देश प्रत्यक्ष देखा गया ही श्रुतज्ञानके द्वारा प्रमाणित किया गया है । इसलिए यह उलाहना देना ठीक नहीं है कि जो सूत्रोंमें आश्रवके कारण बताये हैं तो उनका नियम नहीं बैठता ।

(१०६) **सूत्रोक्त परिणमनोंका नियतकर्मास्रवहेतुत्व बतानेका प्रयोजन नियतकर्मानुभागबंधकी मुख्यताका प्रतिपादन**—अब एक शङ्काकार कहता है कि जो कारण बताये गए हैं किसी कर्मके आश्रवके सो उस परिणाम द्वारा तो सभी कर्मोंका आश्रव होता है, क्योंकि

आयुकर्मको छोड़कर ७ कर्मोंका आश्रव संसारके सर्वसाधारण जीवोंके निरन्तर होता रहता है। तो परिणाम चाहे वह प्रदोषका हो, जिसको बतला रहे कि ज्ञानावरणका आश्रव कराता है किन्तु उस प्रदोष परिणामके प्रकट होनेपर अन्य कर्मोंका भी तो आश्रव होता रहता है। फिर तो जो भी आश्रव बताये गए हैं उनका नियम नहीं ठहर सकता कि अमुक काम करने से अमुक कर्मका आश्रव होता है, क्यों नियम नहीं ठहर सकता कि अनेक कर्मोंका आश्रव उस परिणामसे होता है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं। यद्यपि यह बात है कि किसी प्रदोष आदिक परिणामके होनेपर अनेक कर्मोंका आश्रव होता है याने सूत्रमें जिस परिणामको जिस कर्मके आश्रवका कारण बताया है उसके अलावा अन्य कर्मोंका आश्रव होता है, किन्तु ऐसा होनेपर भी विशेषताके कारण भिन्न-भिन्न कर्मोंका नाम दिया गया है। जैसे ज्ञानमें प्रदोष करनेसे यद्यपि प्रदेशबंध सभीका होता है किन्तु विशेषतया अनुभागबंध ज्ञानावरणका होता है। इस कारण ज्ञानावरणके आश्रवके कारणमें इस ज्ञानप्रदोषको दिया गया है। तो इसी प्रकार जिन जिन कर्मोंके आश्रवके कारण बताये गए हैं उन परिणामों द्वारा उन कर्मोंका अनुभाग बंध विशेष होता है और अन्य कर्मोंका साधारण होता है। इस विशेषताके कारण यहाँ आश्रवका नियम बनाया गया है। इस प्रकार इस अध्यायके प्रथम सूत्रमें जो बताया था कि काय, वचन, मनके कर्म योग हैं और वे आश्रवके कारण हैं। सो उस आश्रवके सम्बन्धमें जो प्रायोजनिक ज्ञेय तत्त्व था उसका यहाँ निरूपण किया गया है।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन एकोनविंश भाग समाप्त ॥